हलाहल

सन् १९३६—'४५ मे

लिखित

सूखे सब रस, बने रहेगे

किंतु हलाहल औ' हाला।

—मधुशाला

बच्चन की अन्य प्रकाशित रचनाएँ

१—बंगाल का काल

२—सतरंगिनी

३—आकुल अंतर

४—एकांत संगीत

५—निशा निमंत्रण

६—मधुकलश

७—मधुबाला

८—मधुशाला

९—खैयाम की मधुशाला

१०—प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग } कविताएँ

११—प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग } कविताएँ

१२—प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग—कहानियाँ

इनके विषय में विशेष जानकारी के लिए पुस्तक के अंत में देखिए। नवीनतम रचनाओं के लिए लीडर प्रेस, प्रयाग से पत्र-व्यवहार कीजिए।

हलाहल

बच्चन

एक में जीवन-सुधा रस
दूसरे कर में हलाहल।

—मधुकलश

विज्ञापन

आज बच्चन के काव्य प्रेमियो के सामने हम उनकी एक नवीन रचना उपस्थित कर रहे हैं।

जैसा कि रचना-तिथि सूचक पृष्ठ से आपको विदित हो गया होगा 'हलाहल' कवि की एक ऐसी कृति है जिसपर उन्होंने अपनी रचनाओ में सबसे अधिक समय लगाया है अथवा जो सबसे अधिक समय तक उनका मानस मंथन करती रही है। फ़रवरी, १९३६ की 'सरस्वती' में 'हलाहल' के पद्रह पद (जिनकी संख्या प्रस्तुत सकलन में १, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६८, ६९, ७०, ७१, ७५, ९३, ९६, ९७ है) निम्न लिखित टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए थे :—

"'मधुशाला' के समान मै 'हलाहल' पर भी चतुष्पदियों में एक 'तुकबदी' लिख रहा हूँ। पूर्ण रचना में संभवतः सौ-सवासौ से ऊपर पद होगे। अब तक रचे हुए पदो में से कुछ चुनकर 'सरस्वती' के लिए भेज रहा हूँ। यहाँ लिए गए सभी पद अक्रम हैं। पूर्ण रचना पुस्तक रूप मे यथा समय प्रकाशित की जायगी।'

इस रचना की पूर्ति जाकर १९४५ में हुई और इस प्रकार स्वाभाविक ही इसमे उनके दश वर्ष के लम्बे जीवन की भावनाएँ, कल्पनाएँ, शकाएँ एव आशाएँ प्रतिबिंबित हुई हैं।

'मधुशाला' के समान 'हलाहल' भी चौपदो का संग्रह है। 'हलाहल' को केवल मुक्तको का संग्रह समझना भूल होगी। और यह बात 'मधुशाला' के सम्बन्ध में भी उतनी ही सच है जितनी इस रचना के विषय में। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण होते हुए भी क्रमानुसार सपूर्ण रचना के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग देता है। पढकर देखे।

—प्रकाशक

कृति-परिचय

कवि का सच्चा परिचय उसकी कृति है और कृति का सच्चा परिचय वह अपने आप है—यही मैंने सदा माना है। जहाँ कृति स्वयं अपना परिचय देने में असमर्थ रहती है वहाँ या तो उसमें कोई विलक्षणता होती है या कोई कमज़ोरी। हलाहल का कुछ परिचय देने की मुझे आवश्यकता प्रतीत हो रही है, इसके किस गुण-दोष के कारण, इसपर मेरा चुप रहना ही उचित है।

प्रथम पृष्ठ पर जो तिथि-निर्देश किया गया है उससे प्रायः यह समझा जायगा कि मैंने इस रचना के ऊपर दस बरस तक काम किया है। यह बात एक अर्थ मे सच होते हुए भी भ्रामक है। और मुख्यतया इसी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं इन पक्तियो को लिख रहा हूँ।

जिन दिनो 'हाला' के प्रतीक से मेरा मस्तिष्क और हृदय अभिभूत था उन्ही दिनों 'हलाहल' के प्रतीक ने भी मेरा ध्यान अपनी ओर खीचा था। इसकी रचना मे मै सन् १९३५ के अतिम अथवा सन् १९३६ के प्रारभिक महीनो में लगा रहा। लगभग पचास पद लिखे गए थे, जिनमे से पंद्रह चुनकर मैने फरवरी, सन् १९३६ की 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेज दिया था। कल का 'हाला' का लेखक आज 'हलाहल' पर लिख रहा है, इस बात ने स्वाभाविक ही लोगो का ध्यान आकृष्ट किया। बाद के किसी महीने की 'सरस्वती' में इन पदो की आलोचना करते हुए किसी महोदय ने इनमें अभिव्यक्त विचारो पर आपत्ति भी उठाई थी और इससे मुझे एक पद लिखने की प्रेरणा मिली थी, 'चलाई तुमने पत्थर ईंट देखकर मंदिरा मेरे हाथ' आदि।

१६३६ मेरे जीवन में एक भीषण भूकंप का समय था। 'हलाहल' जिन प्रवृत्तियों का प्रतीक बनकर मेरे मन में उदित हुआ था उनको दुलराकर नहीं, बल्कि उनको चुनौती देकर ही मैं अपने अंदर बल सचित कर सकता था, अपने को सुस्थिर रख सकता था। यह चुनौती मैंने 'मधुकलश' में दी। जीवन की एक मार्मिक चोट ने क्षय रोग के रूप में मुझपर आक्रमण किया लेकिन उसे पराजित होना पड़ा, श्यामा को बचाने के लिए मैंने यमराज के अंतिम द्वार तक युद्ध किया। उनके अवसान पर मैंने अपने आपको मौत की अंधकारमय घाटियों में पाया। 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के गीतों को गाता हुआ जब इस अंधकार से निकला तो जीवन का प्रकाश आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करने लगा। कभी मन इस नई ज्योति से पुनः परिचित और अभ्यस्त होने का प्रयत्न करता—'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' के गीतों में; और कभी मन कहता, फिर लौट चलो बीते युग के अंधकार में—जहाँ 'हलाहल', 'मरघट' और 'अतीत का गीत' अधूरा पड़ा है। अंतिम दो रचनाएँ भी मैंने १६३६ में ही प्रारंभ की थी और अपूर्ण ही छोड़ देने को विवश हुआ था। अक्टूबर, १६४० में 'खैयाम की मधुशाला' का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया गया था और उसी में इन तीनों रचनाओं के शीघ्र प्रकाशित होने की सूचना दे दी गई थी। साथ ही 'आकुल अंतर' और 'विकल विश्व' का विज्ञापन भी कर दिया गया था।

नवंबर, १६४० में पंडित सुमित्रानंदन पंत ने मुझे अपने साथ रहने को बुला लिया। उन दिनों मैं अपने अनेक दुःखद स्मृतियों से भरे हुए घर को छोड़कर हालैंड हाल होस्टल में रहता था और प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में 'रिसर्च स्कॉलर' का काम करता

था। जुलाई में ही पत जी और पडित नरेंद्र शर्मा ने प्रयाग में साथ रहने का निश्चय किया था, परंतु किसी कारण वश नरेंद्र जी को स्थायी रूप से बनारस चला जाना पड़ा और पत जी अकेले रह गए। मैंने उनके निमत्रण का स्वागत किया। हम दोनो ८-ए, बेली रोड पर 'बसुधा' में रहने लगे। प्रसगवश यह बतला दूँ कि इस घर का यह नाम पत जी ने ही दिया था। कहने लगे, जब मै कालाकाँकर मे था तब मेरे निवासस्थान का नाम था 'नक्षत्र'। अब मै 'नक्षत्र' से 'बसुधा' पर आ गया हूँ; फिर यह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर सकेत करता है और इस प्रकार मेरे साम्यवादी विचारो से जोड़ खाता है और एक बात और भी है इस नाम मे—'ब' से बच्चन, 'सु' से सुमित्रानदन और 'धा' से धारण करने वाली—ब. सु. धा.! थे तो हम दोनों ही बसुधा पर लेकिन हमारी मनस्थितियो मे कितना अतर था। पत जो उच्च आकाश की आभा का परित्याग कर पृथ्वी पर उतर पड़े थे। और मैं पाताल-निम्न घाटियो के अधकार से सघर्ष कर अपना सिर क्षितिज के ऊपर उठा रहा था! लेकिन इस नए ससार से सामजस्य स्थापित करना पत जी के लिए भी कठिन हो रहा था।

'बसुधा' मे मैं 'निशानिमंत्रण' और 'एकात संगीत' के पश्चात लिख रहा था 'हलाहल' और 'आकुल अतर' और पत जी 'युगवाणी' के 'गीत गद्य' और ग्राम्या के, कहना चाहूँगा, गीत पद्य के पश्चात लिख रहे थे, एक बार फिर, गीत काव्य जिनमें उनका हृदय सहसा मस्तिष्क के समस्त भार को, जिससे उन्होंने कुछ समय से उसे अकलात्मक रूप से आक्रात कर रक्खा था, एक साथ फेककर स्वच्छंदता से गुनगुनाने लगा था—'बज पायल छम-छम-छम', 'बाँध दिए क्यों प्राण प्राणों से', 'शरद चाँदनी' आदि गीत उन्होंने इसी समय लिखे। इन गीतो की

संख्या संभवतः आठ-दस के ऊपर नहीं गई। मेरे 'हलाहल' के पदों की संख्या लगभग सौ के पहुँची।

जब से मैं आया पत जी ने घर के प्रबध का सारा भार मेरे ऊपर छोड़ दिया। उन्होंने कहा, देखो भाई, यह आटे, दाल, चावल का हिसाब रखना मुझे बड़ा बखेड़ा लगता है, अगर यह तुम कर लो तो बड़ा अच्छा हो। और धीरे-धीरे वह सारा काम मेरे सिर पर आ गया जिसके लिए किसी गृहिणी की जिम्मेदारी समझी जाती है। पत जी सब झझटो से निश्चित होकर बहुत प्रसन्न थे। एक दिन किसी मित्र ने कहा कि 'आप लोगो का यह दुकेला अकेलापन (Double single-ness) हमें अच्छा नही लगता।' इसपर पंत जी बोले, 'अब मैं अकेला कहाॅ रहा, अब तो मैंने बच्चन को 'रख' लिया है।'

यह तो देवता को बाद को पता लगा कि मुझे 'रखना' उन्हे कितना महॅगा पड़ा। गर्मी की छुट्टियाँ आईं। मुझे अपने दो वर्ष के रिसर्च के संबंध मे एक लेख युनिवर्सिटी को देना था, इस कारण मैने प्रयाग मे ही रहने का निश्चय किया। पत जी अपना बकस और बिस्तरबंद लेकर अल्मोड़ा चले गए। मैंने ही बाद को उनकी पांडु लिपियाॅ, पत्र आदि सॅभाले, उनके कपड़े सदूको में रक्खे। गर्मी भर मै अपने काम में लगा रहा। युनिवर्सिटी खुलने पर अग्रेजी विभाग में लेक्चरर के पद पर मेरी नियुक्ति हो गई। काम नया था और मेरा सारा समय पाठ की तैयारी में लगने लगा। जो चीजें जहाँ पड़ी थी वही पड़ी रहीं, न उन्हें किसी ने उठाया, न देखा।

बरसात के बाद जब जाड़ा आया तो मैंने गरम कपड़ो का संदूक खोला। न तो इनके साथ मैंने नेप्थलीन की गोलियाँ रक्खी थी और

न इन्हे वर्षा के बाद मैने धूप दिखाया था। परिणाम यह हुआ कि हमारे सारे कपड़े कीड़े खा गए। पंत जी का एक बढ़िया ऊनी सूट बरबाद हो गया था। उनका एक बकस ग़ायब था। एक बार यह सोचकर कि कही यह उनकी पांडु लिपियो वाला संदूक तो नही था, मेरा कलेजा धक से हो गया, पर चोर को काग़जों से क्या काम। वह दूरदर्शी था और अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर कपड़ों वाला संदूक ही ले गया था। इसके बाद कपड़ो का जो काल देश मे पड़ा उसमें तो सभव नहीं कि पत जी अब तक भी इनकी कमी पूरी कर पाए होगे। फूहड़ और अनाड़ी गृहिणी रखकर उन्होंने अपनी जिदगी भर के लिए सबक सीखा; कान पकड़ा, बाबा अब जब तक तुम घर में बीबी नही लाते मैं तुम्हारे पास नही फटकने का।

अब मैने और चीजो की देख-भाल शुरू की। मेरे कागज-पत्र, पाडु लिपियाँ एक अलमारी मे बंद थी। अलमारी खोली तो मुँह से चीख निकल गई। अलमारी पक्की सीमेंट की थी, पर न जाने कहाँ से दीमको ने निकलकर सारे काग़जो को खा डाला था। 'हलाहल' और कहानियो पर लिखी एक आलोचनात्मक पुस्तक के एक अक्षर का भी पता न था। 'मरघट' और 'अतीत का गीत' के कुछ खाए, कुछ अधखाए भाग मिले। मेरा कहानी-सग्रह शायद दीमकों को अच्छा न लगा था; उन्होंने उसके आगे और पीछे के कुछ पृष्ठों का स्वाद लेकर उसे छोड़ दिया था। प्रारंभिक रचनाओ पर भी उन्होने अधिक कृपा नही की थी। मिट्टी में मिले हुए कागज के विचित्र और विभिन्न रूपों के टुकड़ो में से समझ में नही आता था कि क्या संचित करूँ और क्या फेंक दूँ। 'हलाहल' जो इनमें से मेरी समझ में सर्वोत्तम कृति थी, विलुप्त हो गया था, और मैने इसे फिर से लिख सकने की सपूर्ण आशा छोड़

दी थी। रचना की एक पक्ति थी 'हमारी तुकबदी के हेतु बहुत होंगे लघु-लघु कृमि-कीट'। 'हलाहल' के लिए वह भविष्यवाणी सिद्ध हुई!

इसके बाद पिता की मृत्यु, दूसरे विवाह, पुत्र-जन्म, विश्वसंग्राम अगस्त आदोलन, बंग दुर्भिक्ष आदि वैयक्तिक और सासारिक घटनाओ ने मेरा ध्यान इतना आकर्षित किया कि अतीत की ओर देखने का मुझे अवकाश ही न मिला। केवल अगस्त आदोलन के समय जब युनिवर्सिटी दो-ढाई महीने के लिए बंद कर दी गई थी तब मैंने प्रारभिक कविताओ को प्रकाशित कराया।

दिसबर, १९४४ मे मेरी माता जी बीमार पड़ी और मार्च '४५ में उनका स्वर्गवास हो गया। जनवरी में इधर तो मेरी माता जी मृत्यु-शैया पर पड़ी थीं और उधर मेरी पत्नी के पिता की भीषण बीमारी का तार आया। यह निश्चय हुआ कि हम में से एक उनके पास रहे। मै अपनी पत्नी को सिध छोड़कर वापस आया। अब घर में हम दो ही व्यक्ति रह गए—दिनानुदिन क्षीण होती मेरी माता जी और मैं।

अमित और तेजी के चले जाने से घर में एक अजीब सन्नाटा-सा छाया रहता। मेरा अधिक समय माता जी की खाट के पास बीतता। कभी उनकी सेवा में और कभी उनको कोई धार्मिक ग्रथ सुनाने में। उनकी चारपाई के पास बैठे-बैठे मुझे सहसा अतीत की एक मृत्यु-शैया का ध्यान आता जिसके समीप इसके नौ वर्ष पूर्व मैं बैठ चुका था। उस मृत्यु-शैया के निकट कितनी बेचैनी थी, यौवन की कितनी अभिलाषाएँ उसके पायो और पाटियो पर अपना सिर धुन रही थीं; उस पर चमकती हुई दो आँखो मे जीवन की कितनी प्यास थी, मौत के अनजाने और भेद-भरे देश में जाने से कितना भय था और अकिंचन मानव की असमर्थता और विवशता पर कितना विक्षोभ था!

इसके विपरीत माता जी की शैया के निकट कितनी शाति थी ! जीवन की अभिलाषाएँ या तो पूरी हो चुकी थी, या मिट चुकी थीं। आँखो मे जीवन के प्रति उपेक्षा और उदासीनता का भाव था, जीवन में ऐसा कुछ नूतन क्या आने को है कि उसके लिए उत्सुक हुआ जाय। उनका यह विश्वास की आत्मा अमर है, मृत्यु से आत्मा का अत नही पुनर्जीवन होता है, ससार-शरीर और देह-गर्भ से निकलकर ही नया जन्म संभव है और ऐसे समय पीड़ा स्वाभाविक ही है, और जो कुछ हो रहा है वही ठीक और कल्याणकर है उनके चेहरे से टपका करता था। श्यामा की मृत्यु के पश्चात मुझे ऐसा लगता था कि जैसे उनकी आत्मा उनके शव के चारो ओर चक्कर काट रही है और सतत प्रयत्नशील है कि वह उनके चोले मे फिर से समा जाय। माता जी की मृत्यु के कई दिन पूर्व से ही मुझे यह आभास हुआ था कि जैसे उनकी आत्मा शरीर छोड़कर अलग हो गई है और दूर बैठकर साँसो के साथ उसका खेल देख रही है—कब 'देह धरे का दड' समाप्त हो और कब उसे मुक्ति मिले। उनकी मृत्यु मेरे लिए जीवन की एक नवीन व्याख्या थी। मेरी आँखों के सामने मृत्यु का एक नया अर्थ खुल रहा था और अक्सर मैं अंग्रेजी कवि शेली की निम्नलिखित पंक्तियाँ दुहराया करता था—

Waking or asleep
Thou of death must deem
Things more true and deep
Than we mortals dream,*

---

* सोते या जागते हम मर्त्यों की अपेक्षा तुझे मृत्यु के अधिक सच्चे और गंभीर अर्थ का ज्ञान होगा। यह पंक्तियाँ उनकी कविता 'स्काई लार्क' से है।

ऐसी परिस्थिति और मनस्थिति में 'हलाहल' की पंक्तियाँ किसी विस्मृति-प्रदेश की प्रतिध्वनियों के समान, वर्षों के अंधकार को चीरती हुई मेरे कानों में गूँजने लगीं। फिर भी मैं यह नहीं कहूँगा कि 'हलाहल' अपने संपूर्ण पूर्व रूप में मेरे मानस में उतर आया। समय की लंबी यात्रा ने उसमें न जाने कितना परिवर्तन कर दिया था। मेरी स्मरण शक्ति बुरी नहीं है, पर दस बरस बाद मस्तिष्क ने उन बहुत-सी बातों को अनावश्यक समझकर भुला दिया था जिन्हें उसने किसी समय उत्सुकता के साथ संचित किया था। केवल उन पंद्रह पदों को छोड़कर जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके थे और जो यहाँ अविकल रख लिए गए हैं, 'हलाहल' के वर्तमान रूप में कितना उसका पूर्वांश सन्निहित है और कितना मेरे नवीन अनुभव से समाहित हुआ है, इसे बता सकना मेरे लिए असंभव है। 'हलाहल' का धरातल एक बार बन चुका था और मेरा नया अनुभव भी, जिसने 'हलाहल' के प्रतीक के अर्थ ही मेरे लिए बदल दिए, उसमें आमूल परिवर्तन नहीं कर सका। फिर भी यह मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि यदि मैंने 'हलाहल' को १९३९ अथवा १९४० में समाप्त कर दिया होता तो उसका यह रूप कदापि न होता जो आज आपके सामने है।

इन पंक्तियों को लिखकर मैंने एक नई बात की है। 'हलाहल' मेरी पहली मौलिक रचना है जिसके विषय में कुछ कहने को मेरी इच्छा हुई है। शायद 'खैयाम की मधुशाला' की भूमिका लिखकर मैंने अपनी आदत बिगाड़ ली है। कविता को समझने के लिए न किसी भूमिका की आवश्यकता है, न किसी व्याख्या की ज़रूरत। यह बात मेरे मन में इस तरह बैठ गई है कि इस लेख को आरंभ करने से पहले मैंने अपने से कई बार पूछा है कि क्या इसके बग़ैर मेरा काम नहीं चल

सकता। और, जिस तरह कभी-कभी कविता लिखने के लिए हृदय में आवेग उठता है और वह रोका नहीं जा सकता, उसी तरह इन पंक्तियों को लिखने के लिए भी अगर मेरे मन मे प्रेरणा न हुई होती तो मैं अपना क़लम न उठाता। इन पंक्तियों के द्वारा यदि 'हलाहल' के विषय मे आपका कोई कौतूहल शात होगा तो मैं अपनी प्रेरणा को निरुद्देश न समझूँगा।

मेरी प्रार्थना पर मेरे मित्र श्रीयुत रघुवंश किशोर कपूर ने 'हलाहल' का 'आमंत्रण' लिखा है। पुस्तक मैंने, इसके प्रारंभ से पूर्णता तक की लंबी अवधि में मेरे मनोवेगो के सहृदय साखी, अपने दूसरे मित्र श्रीयुत ज्ञान प्रकाश जौहरी को समर्पित की है। हम तीनो मित्रो ने जीवन के अनेक अवसरो पर साथ बैठकर अपने हृदय की बात एक दूसरे से कही है और मन की गाँठे सुलझाई है। मेरी इच्छा थी कि मेरी किसी कृति के साथ हम तीनो का नाम एक साथ संबद्ध हो। ज्ञान प्रकाश जी ने समर्पण स्वीकार करके और रघुवंश किशोर जी ने 'आमंत्रण' लिखकर मेरी इस अभिलाषा की पूर्ति की है। दोनो ही मेरे इतने निकट हैं कि इनके प्रति आभार प्रकट करते हुए भी मुझे सकोच हो रहा है।

प्रयाग
२१. ४. ४६

बच्चन

ज्ञान प्रकाश जौहरी को

तरल नत नयनो का आशीष
बनाता कटुता को मधुमान,
गरल को करती अमृत रूप
सरल मृदु अधरो की मुसकान !

आमंत्रण

जीवन की अभिशप्त यात्रा से क्लांत पथिक !

आओ, इस कल्पना-कुटीर में बैठकर कुछ देर विश्राम कर लो; कुछ देर अपने शिथिल चरणों को कवि की विचार-धारा में डाल उनकी थकान मिटालो; उनमें नई स्फूर्ति, नया उत्साह और जीवन के अभिप्रेत ध्येय की ओर अनवरत चलने का नया सकल्प संचित कर लो; फिर अपने मनोनीत पथ पर अग्रसर होना, चले जाना। अभी तो तुम थके हुए हो, निराशा की धूलि से तुम्हारा शरीर और मन दोनों ही मलिन है और देखता हूँ इस यात्रा मे अतृप्त अभिलाषाओं का बोझ तुम्हारे सिर पर क्रमशः बढ़ता ही गया है। तुम्हारे यौवन-सुलभ नेत्रों मे अब वह निर्विकार हीरक-दीप्ति कहाँ है ? तुम्हारा निर्मल हास जो कि सृष्टि के निर्माण-सुख का एक मात्र द्योतक था—वह निःशक हास भी तो अब एक मुसकराहट बनकर रह गया है। तुम्हारे स्निग्ध और उन्नत ललाट पर, देखो तो, समय ने रेखागणित की कैसी गुत्थियाँ सुलझाने की कोशिश की है। तुम्हारे बालों में कालिमा को भी ज्योतिर्मय बनाने वाली वह अलौकिक चमक कहाँ है ? और तुम्हारे शरीर की भीनी-भीनी सुगंध जो जीवन में केवल एक बार, केवल यौवन-बसंत का प्रथम झोका बनकर आती है—वह सुगंध भी चली गई। अब तो तुम धूलि-धूसरित, स्वेद-विगलित, व्याकुल और व्यथित यात्री हो। आओ, इस कल्पना-कुटीर में बैठकर कुछ देर विश्राम कर लो। मैं तुम्हारा आह्वान करता हूँ।

क्या कहा ? तृषातुर हो ? लो, मैं अभी तुम्हारी प्यास बुझाता

हूँ । क्या पिओगे ?—शीतल जल । पर उससे तो केवल क्षणिक तृप्ति होती है । बुझने की देर नहीं कि तृषा पुनः बलवती हो जाती है, और अंतस्तल की प्यास को तो यह रक, बापुरा जल छू भी नहीं पाता । तो फिर क्या लोगे ? मदिरा—उषा से होड़ लेनेवाली, जीवन के शापो का एक मात्र परित्राण, विभ्रांत विश्व की आँखो में गुलाबी सपने बिखेरने वाली, फेनिल मदिरा ? यहीं तो, नादान, तुम ग़ल्ती करते हो । यह मदिरा तुम्हारे विक्षुब्ध हृदय की विडबना है । यह मदिरा तुम्हे नियति के निर्धारित पथ पर चलाने के लिए प्रलोभन है । इसके बहुत से रूप हैं । तरुणी का प्रथम चुंबन, प्रणय का मादक राग, वर्ण और वाणी के जगत का आकर्षण, लालसा की उमग, ईर्ष्या का उन्मेष । जीवन के सारे ही व्यापार जिनसे ससृति की श्रृखला बनी है अथवा जिनसे मनुष्य का विवेक मुँह मोडता है मदिरा से ओतप्रोत है । उसे अपनी कमजोरियों पर नियति का व्यग भो कह सकते हैं और अपने पुरुषत्व को चुनौती भी । मन का चाव, मान की रक्षा,—बेचारा मानव किसी न किसी प्रकार इस छल-पाश में बँध जाता है, और अपने बंधन को ही, अपने बधन में ही अपनी मुक्ति मानने लगता है ।

विश्रांत पथिक, तुम्हारी तृष्णा का शमन मदिरा नहीं कर सकती । मदिरा का स्वाद केवल होठ ही जानते हैं । शरीर के अदर तो यह विद्युत-लहर बनकर दौडती है पर वहाँ भी इसका प्रभाव और प्रकाश होता अचिरस्थायी ही है । ज्यो-ज्यो अग्रसर होती है पीछे से मिटती जाती है । नही पथिक, मै तुम्हे एक ऐसी हाला पिलाना चाहता हूँ जो सर्वदा उन्मत्त रखती है । इस अनोखी हाला को कहते है हालाहल !

लो, तुम तो नाम सुनते ही घबरा गए, पीले पड़ गए । लगता है जीवन के सत्य से बिल्कुल अनभिज्ञ हो । यथार्थता के पहले वार मे हा

लड़खड़ा गए। अरे, जिसे तुम आजीवन मदिरा समझकर पीते रहे हो, वह है वस्तुतः हालाहल,—विश्व का ध्रुव और कठोर, अनिवार्य और सर्वव्यापी सत्य, और मदिरा ?—

'हलाहल के दो युग के बीच
एक मदिरा की कल्पित रेख !'

एक छोटा-सा विराम-चिह्न, खुलकर साँस लेने का एक क्षणिक स्थान !

कल्पना की रेखा से खेलने वाले पथिक, मैं चाहता हूँ कि आज तुम्हारे हृदय पर एक पत्थर की लकीर खिंच जाय, आज तुम्हारे जीवन का विष बोल उठे, आज मैं तुम्हें उस कालकूट का एक घूँट पिला दूँ जिसे कंठस्थ कर शंकर 'प्रलय-लय-नाश, प्रलय-लय-नाश' के कार्य में इतने निर्विकल्प भाव से मग्न हैं। हलाहल पी लेने के बाद तुम्हें जीवन की वासना, अभिलाषा, करुणा और मोह पदच्युत नहीं कर सकेंगे, और न ही तुम्हारी तृष्णा तुम्हारे जीवन का अभिशाप बन तुम्हें सदा-सर्वदा भटकते रहने की प्रेरणा करेगी।

कहते हैं जीवन का एक मात्र सत्य अनुभव है। अनुभव को हलाहल भी कहते हैं। अनुभव बतलाता है कि सुरा और गरल में कोई विशेष अंतर नहीं। एक ही रस के दो नाम हैं, एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मधु की धार भी कटु होती है और हलाहल के बाद मिलती है और हलाहल की ज्वाला ही प्रायः मधु से जले हुए प्राणी का उपचार होती है। मादक दोनों ही हैं और कोई भी नहीं। एक के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है और दोनों ही क्रमबद्ध हैं। तुम्हीं बताओ, जिस नैसर्गिक वाञ्छनीय के पीछे तुम तन-मन-प्राण की बाजी लगाकर

दौड़े थे, क्या प्राप्त होने पर भी वह उतना ही वांछनीय रहा ? क्या तुम्हारे हाथ में कभी अमृत गरल और रस राख में परिणत नहीं हुआ ? क्या हाला हलक से उतरते ही हलाहल नहीं बन गई ? क्या क्षण भर के प्रसाद के बाद सारा जीवन विषाद में नहीं बीता ? तुमने सुख और दुख दोनो का अनुभव किया,

'पर हाय हुआ ऐसा कैसे,
सुख भूल गया दुख याद रहा !'

और ज़रा ससार की ओर तो आँख उठाकर देखो। सौंदर्य और प्रणय का यहाँ कैसा-कैसा अभिनय हो चुका है ! कैसी तीव्र और अनुपम सुरा यहाँ ढाली जा चुकी है ! शत-शत वसत का सपुट उन्माद पागल प्रेम के एक-एक क्षण पर निछावर हो चुका है। ससार ने हेलेन और पैरिस का, रूपमती-और बाज बहादुर का, शाहजहाँ और मुमताज-महल का, रोमियो और जूलियट का प्रणय देखा है और उनके प्रणय के स्मारक-चिह्न, उनकी रंगस्थली के भग्नावशेष आज भी हमारे सामने हैं। हेलेन के नेत्र तो धूलि से पट गए, होमर की कृति अब भी बाकी है। मुमताज का लावण्य तो ताजमहल के फूलों को मिल गया, उसका मक़बरा आज भी अगणित असस्कृत नेत्र हर दृष्टिकोण से जाँचा करते हैं। जीवन की सुरा, हाला की माधुरी हर जगह शीघ्र ही विलीन हो जाती है, जुही की सुगंधि की भाँति जल्द ही उड़ जाती है,—जीवन का कठोर सत्य, हलाहल का अविनाशी तत्त्व, इंसान के टूटे महल और मक़बरे सब कहीं पड़े रह जाते है।

इसीलिए मैं चाहता हूँ कि तुम हलाहल पिओ, जीवन के सत्य से वंचित न रहो। जानते हो, सत्य तो कंकाल है, कठोर, नीरस, भाव-

हीन, सृष्टि की आधार शिला। असत्य में हैं इंद्रधनुष के रंग, संगीत का क्षितिज मापक राग, असंख्य अनुभूतियों का क्रीड़ास्थल मांसमज्जित शरीर और विश्व की पल-पल परिवर्तित छटा। असत्य की मादक मिठास, हाला का अनिर्वचनीय सुख सत्य का कड़ुआ घूंट पीकर ही जाना जा सकता है। जीवन की तीव्र लालसाओं का इसीलिए महत्त्व है कि हमारे चारो ओर मृत्यु का, हलाहल का समुद्र लहरा रहा है। यदि मानव को मरण का वरदान न मिला होता तो वह भी देवों की भाँति जड़ और कायर होता। हमने तो अपनी क्षणभंगुरता मे ही अपने अमरत्व का दुर्ग खड़ा किया है। सीमित जीवन में सीमाहीन अभिलाषा, नरक में रहकर स्वर्ग की कामना, नाश की गोद में बैठकर निर्माण का अनवरत प्रयत्न—यही हमारी लघुता और यही हमारा गौरव है। इसीलिए कवि कहता है—

> **'मर्त्य की मिट्टी तू म्रियमाण,**
> **साधना तेरी सब स्वर्गीय,**
> **दैवतों में तू ईर्ष्या-पात्र,**
> **मानवों में तू हो दयनीय।'**

लो पथिक बढ़ाओ हाथ। देखो रजत पात्र में लहराते हुए इस नीले हलाहल में कितना आमंत्रण है, तुम्हारी थकान और व्यथाओं के प्रति कितनी संवेदना है! कितना सौंदर्य है इसमें! लगता है जैसे नगाधिपति के हिमाच्छादित शृंग पर सहसा कोई नील कमल प्रस्फुटित हो गया हो........

अब डर किस बात का? तुमने अपनी महानता जान ली, इस कालकूट में सर्वांग डूबकर तुम विवेक की चरम सीमा तक पहुँच

जाओगे। हलाहल तुम्हारे व्यक्तित्व को डुबाने का नही ऊपर उठाने का एक साधन है। और यदि सुरा पर ही तुम्हारा अनुराग है तो उसका स्वाद भी तुम इसे पीकर ही पहचानोगे। सीधी रेखा का अनुमान वक्र रेखा से तुलना करने पर ही होता है। हलाहल जब तुम्हारे शरीर की सारी इठलाती हुई नसो में प्रविष्ट हो जायगा तभी तुम्हे हाला के सीधे तीर का गौरव मालूम पडेगा। तभी तुम जान सकोगे कि तुममें कितनी जीवन शक्ति है, तुम्हारी सीमाओ का विस्तार कहाँ तक है। तभी जान सकोगे,

'कि तुम हो संसृति से भयभीत
कि तुमसे भय खाता संसार!'

विश्रात पथिक, मै देख रहा हूँ कि तुम्हारी मोह-तमिस्रा भाग रही है। तुम्हारी विचार-शक्ति जिसे हाला ने कुंठित कर रक्खा था फिर तीव्र हो रही है, तुम्हारे मस्तिष्क से प्रवचना का आवरण दूर हो रहा है,—तुम जीवन के तत्त्व को समझने लगे हो। तुम जान गए हो कि मानव हाला से, माधुर्य की अतृप्त प्यास से मारा जाता है, हलाहल से नहीं। तुम्हारे क्षीण-निष्प्रभ नेत्रों में एक अपूर्व तिमिर विदारक ज्योति घनीभूत हो रही है जैसे कि हलाहल जाज्वल्यमान हो उठा हो। देखता हूँ कि तुममे सहसा संसार के सारे पापो का भार उठाने की क्षमता आ गई है। तुम हलाहल की काल्पनिक अनुभूति से ही सत्य और आनंद की पराकाष्ठा तक पहुँच गए हो। तुम्हारे व्यथित मानस पर शाति का साम्राज्य स्थापित हो रहा है—वह शाति जो गरल में निहित है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि आँखो में नीद।

और देखो यह कैसा अप्रत्याशित परिवर्तन होने लगा! तुम्हारे मृत्युंजय संकल्प ने तो गरल को जल से भी सरल बना दिया। इसकी

कटुता, इसकी भयकरता, इसकी नीली ऐंठन न जाने कहाँ विलीन हो गई,—

'पहुँच तेरे अधरों के पास
हलाहल काँप रहा है, देख,
मृत्यु के मुख के ऊपर दौड़
गई है सहसा भय की रेख !'

कालकूट को हृदयगम करने के निश्चय ने ही तुम्हे भय और वेदना के अतहीन शासन से उन्मुक्त कर दिया; तुम्हे जीवन और मृत्यु के, नाश और निर्माण के रहस्यमय केद्र मे पहुँचा दिया; कहाँ रहा अब अवसान का आतक, कहाँ रही अब नश्वरता की विजय ? अब तुम्हे अपनी गरिमा का सच्चा आभास मिलेगा, अब तुम जान सकोगे कि जीवन के अजेय पंचतत्त्व अनल, अनिल, आकाश, मिट्टी और जल जिनकी भित्ति पर तुम्हारा यह संज्ञाओं का क्रीड़ास्थल शरीर अवलंबित है, तुम्हारी विशाल शक्ति के सम्मुख कितने निष्प्रभ और निष्प्राण है। तुम्हारी कल्पना और प्रणय की निर्माण शक्ति और तुम्हारे आदर्श असतोष के ध्वंसकारी प्रहारो का सामना यह ऊँघते हुए नियति सचालित प्राकृतिक नियम क्या कर पाएँगे !

जीवन की अभिशप्त यात्रा से क्लात पथिक, अब तुम मानव नहीं रहे; भय पर विजय पाकर तुम स्रष्टा और प्रलयंकर की उपाधियो से अलकृत होने के अधिकारी हो गए हो।

लो हलाहल का यह विजित प्याला मैं विनीत भाव से तुम्हे अर्पित करता हूँ।

अमृतसर
१४-४-४६

रघुवंशकिशोर कपूर

हलाहल के पदों की प्रथम पंक्ति सूची

---

* ये चतुष्पदी या चौपदे है। इनमें चार ही पद है। प्रत्येक पद पृष्ठ कम चौड़ा होने के कारण दो पंक्तियो में तोड़ दिया गया है। पढ़ने में प्रवाह का आनंद लेने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक पंक्तियो पर न रुककर पदो पर रुके।

हलाहल

गरल पान करके तू बैठा,

फेर पुतलियाँ, कर-पग ऐंठा,

यह कोई कर सकता, मुर्दे, तुझको अब उठ गाना होगा !

विष का स्वाद बताना होगा !

—एकांत संगीत

१

जगत-घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार,
लगाया उसके मुख पर, नारि,
तुम्हारे अधरों का मधु सार;

नहीं तो कब का देता तोड़
पुरुष विष-घट यह ठोकर मार,
इसी मधु का लेने को स्वाद
हलाहल पी जाता संसार!

२

अभी तो हो न सकी थी पूर्ण
अधर की अधरों से पहचान,
हुआ था केवल पहली बार
चुंबनो का आदान-प्रदान,

कि होठों पर की पहली चोट
गरल ने उठ ऊपर की ओर,
गई मानो विद्युत की धार
हृदय-तन-मन मेरा झकझोर।

३

तृषातुर अधरो से जिस काल
किया था मदिरा का आह्वान,
मुझे इसका था पूरा ज्ञान
गरल भी करना होगा पान;

मधुर ले, कटु को दूँगा छोड़
समझता, क्या था मूर्ख-गँवार,
हलाहल के स्वागत को किंतु
न था इतनी जल्दी तैयार।

४

जगत-घट, तुझको दूँ यदि फोड़
प्रलय हो जाएगा तत्काल,
मगर सुमदिर, सुंदरि, सुकुमारि,
तुम्हारा आता मुझको ख्याल;

न तुम होती तो, मानो ठीक,
मिटा देता मैं अपनी प्यास,
वासना है मेरी विकराल,
अधिक, पर, अपने पर विश्वास !

५

अगर तुमसे लेता मुँह मोड़,
विनिंदित होता है पुरुषत्व,
नहीं तो करता मेरा नाश
मुझे छूकर यह घातक तत्त्व,

अगर जाती है मेरी लाज
करूँगा क्या रखकर मैं साँस,
मनाओ, नभ-दूतो, आनंद,
तुम्हारा सफल हुआ छल-पाश ।

६

तुम्हारी करता था जब खोज
लिए व्रत, साधन, शक्ति अटूट,
निरतर भ्राति-भ्रमो से व्यग्र
रहा था पी विष के ही घूँट,

तुम्हे अब करके भी तो प्राप्त
रहा हूँ विष ही आगे देख,
हलाहल के दो युग के बीच
एक मदिरा की कल्पित रेख !

७

मगर अतर है केवल एक,
प्रथम हालाहल युग था मौन,
तुम्हारे होठों से, पर, होठ
लगा चुप रह सकता है कौन,

मिले माहुर की घातक धार,
मिले मदिरा की मादक बूँद,
गया है खुल अब मेरा कठ
नहीं मैं मुँह सकता हूँ मूँद ।

८

न थी मधु की मामूली देन
कि उसका बिसरा दूँ उपकार,
रहा है अब भी जग में गूँज
तुम्हारे क्षण भर का उपहार;

गरल पी भी मेरी आवाज
अमरता का गाएगी गान,
इसे भी मैं देने के हेतु
तुम्हारा मानूँगा एहसान।

९

सुरा को चख लेने के बाद
कठिन हालाहल से अनुराग;
कठिनता से लड़ने का योग
लिखा लाया, पर, मेरा भाग,

उदय ऐसा होता मालूम
किसी कोने का पुण्य-प्रताप,
किया था मधु पाने का यत्न,
हलाहल आया अपने-आप।

१०

उषा की अमर किरण-सी दूर
चमकती थी मदिरा की रेख,
तिमिर बन घन कर आया पार
उसी को अपलक-अविचल देख,

और अब लेकर उसकी याद
दूसरे तम से लेता होड़,
न छोड़ेगी यह मेरा साथ
मुझे सब सुधियाँ जाएँ छोड़।

११

मधुर कितना मदिरा का नाम,
मदिर कितना मदिरा का ध्यान,
मोहमय कितना मधु का पात्र,
मुक्तिमय कितना मधु का पान!

मगर आ इस दुनिया के बीच,
अरे ओ भाग्य-मलिन इंसान,
बहुत से रस हैं जिनके साथ
तुझे करनी होगी पहचान।

१२

जरा-सी मधु मदिरा में डूब,
सभी सुध-बुध पल भर में भूल,
समय-बंधन से हो स्वच्छंद
रहा सपनों का भूला भूल !

मगर ओ अभिमानी इंसान,
दृगों की मोह तमिस्रा त्याग,
उसे भी आँखें खोल निहार
हलाहल का जो तेरा भाग।

१३

गए ये जीवन को जो सींच
प्रवाहित कर मदिरा की धार,
हलाहल उनका ही उपहार
तुझे कैसे होगा इन्कार;

बुला मदिरा से कर अभिषेक
उन्होंने रक्खा तेरा मान,
तुझे रखनी है अपनी शान
कि विष पी मुँह पर ले मुसकान।

१४

मगर मन की दुर्बलता, हाय,
बुद्धि के बल पर पाती जीत,
बड़ी ही कठिनाई के साथ
भुलाई जाती पिछली प्रीति,

हलाहल के आगे लो देख
झुका है मेरा विधिवत माथ,
मगर मधु प्याली पर से, हाय,
नहीं हटता है मेरा हाथ।

१५

पकड़ रक्खा मदिरा का पात्र
मगर क्या होना है परिणाम,
भले हो मधु अधरो के पास
मगर हैं दूर गए मधु याम,

और जब दूर गए मधु याम
पड़ा सब पहले का सामान,
मगर मधु के अंदर से, हाय,
गया हो मधुता का अवसान।

१६

हलाहल पीना है तो देख
न आगे क्या होगा परिणाम,
नही मुख से बोले अपशब्द,
पिया जब तूने मधु का जाम,

हुई मदिरा कुछ से कुछ और
मिला जब उसको तेरा स्नेह,
हलाहल के प्याले को देख
तुझे क्यो अपने पर सदेह ?

१७

मुझे केवल मदिरा का ध्यान,
मुझे केवल मदिरा का मान,
बहुत कुछ मदिरा के अतिरिक्त
जगत मे, इसका मुझको ज्ञान,

करोगे यदि मुझको मजबूर
पड़ेगा मुझको कहना झूठ,
बताऊँगा जीवन का स्वाद
हलाहल भी पी लूँ दो घूँट ।

१८

रहा जब मधुबाला के साथ,
किया जब निशिदिन मधु का पान,
मुझे भूला कब अपना होश,
मुझे भूला कब अपना ज्ञान;

हलाहल की धारा के बीच
नहीं डर, डूबेगा अस्तित्व,
गगन से होता है सकेत
उठेगा और अभी व्यक्तित्व ।

१९

चलाईं तुमने पत्थर - ईंट
देखकर मदिरा मेरे हाथ,
तुम्हारे हाथ नहीं हैं शात
हलाहल गो अब मेरे साथ,

तुम्हे है कुछ भी हेय न श्रेय
हुए तुम आदत से मजबूर,
असाधू हूँ मै, लूँ मैं मान
मगर था साधू तो मंसूर ।

२०

न मैंने देखा है किस ओर
गगन के नयनो का सकेत,
न मैंने सोचा है किस ओर
हवाएँ दुनिया की अभिप्रेत,
यही तो मेरी सारी शक्ति,
यही तो मेरा सारा जोर,
नही रक्खे दो पद भी भूल
कभी जीवन का दामन छोड़।

२१

न पढ़ पाया मैं वेद - पुराण,
न पढ़ पाया इंजील-कुरान;
और ही कुछ पढ़ने की ओर
गया ग़लती से मेरा ध्यान;
नियति के हाथो से जो लेख
लिखा लाया मानव का भाल,
खपाकर अपना तन-मन-प्राण
रहा हूँ उसका अर्थ निकाल।

२२

जिन्होने मदिरा पी थी साथ
किया था यह मुझसे इकरार,
रहेगे एक उठे सैलाब,
रहेगे एक गिरे अगार;

नही मैं उनको देता दोष,
बुरी थी मेरी ही तक़दीर,
इधर मैं हूँ, वे हैं उसपार,
बीच मे विष की एक लकीर।

२३

एक युग तक था जिनका साथ
नही थी उनसे यह उम्मेद,
कि वे अपने औ' मेरे बीच
बना रक्खेगे कोई भेद,

निकट है मधु मदिरा का अत
गए वे कुछ चिह्नों से भॉप,
विदा लेकर, भागे कुछ लोग,
बिना माँगे ही कुछ, चुपचाप।

२४

मुझे भी ले सकते थे साथ
मगर है यह भी अच्छी बात,
अकेली मेरी छाती शेष
घनो का सहने को आघात,

नही वे ही है दुख में देख
मुझे, जिनको होता संताप,
नहीं वे ही, जिनका दुख देख
कलेजा मेरा उठता कॉप।

२५

हलाहल में न बॅटाया भाग—
नहीं मैं इसपर धुनता माथ,
न पाए मुझको तुम पहचान
रहे यद्यपि इतने दिन साथ,

सुरा अपने हिस्से की दान
तुम्हे कर देता था सुख मान,
तुम्हारे हाथो से मैं छीन
मगर कर जाता विष का पान।

२६

विदा ले स्वप्न गए उस देश
जहाँ से आए थे साह्लाद,
जगत का सत्य कठोर - कुरूप
मिटाता पल-पल उनकी याद,

सुरा के साथी यदि तुम लौट
कभी फिर आओगे इस ठौर,
हमें पाओगे तुम कुछ और,
हमारी दुनिया को कुछ और।

२७

सुरा पीने को थी बाज़ार
हलाहल पीने को एकांत,
सुरा पीने को सौ मनुहार
हलाहल पीने को मन शांत,

हलाहल पीने में भी साथ
किसी का चाहो, तो नादान,
अकेलापन है पहला घूँट
हलाहल का लो इसको जान।

२८

सुरा का आया था जब स्वप्न
उसी के बीच गया था डूब,
मुझे तो है ही यह मालूम
और है दुनिया को भी ख़ूब,

हलाहल की उमड़ी है धार,
करूँगा मथकर इसको पार,
यहाँ जो भी आता है पास
उसे मिलता हूँ बाहु पसार।

२६

हलाहल को पाकर अविराम
प्रवाहित होते अपनी ओर,
बड़ी होगी लज्जा की बात
अगर मैं मुँह लेता हूँ मोड़,

लिया जब पीने का व्रत धार
तुम्हारा भी स्वागत-सत्कार,
तुम्हे भी मेरी पागल प्यास,
तुम्हे भी मेरा पागल प्यार।

३०

हिचकते औ' होते भयभीत
सुरा को जो करते स्वीकार,
उन्हे वह मस्ती का उपहार
हलाहल बनकर देता मार;
मगर जो उत्सुक-मन, झुक-झूम
हलाहल पी जाते साह्लाद,
उन्हे इस विप मे होता प्राप्त
अमर मदिरा का मादक स्वाद।

३१

हलाहल जीवन मे क्षय रूप
करेगा पल-पल जीवन क्षीण,
इसे, पर, पीने की अनुभूति
बड़ी ही अद्भुत और नवीन,
रहूँ मैं, माना, इससे दूर,
न समझूँ इसका मान-महत्व,
मगर मधु पीने से ही कौन
मुझे मिल जाना है अमरत्व।

३२

नही मैं यह कहता हूँ भूल
कि जब था आमज्जित मधु बीच,
नही क्यों आकर मुझको मौत
गई ले इस जीवन से खींच,
तभी मैं करता यदि प्रस्थान
अधूरा रहता मेरा ज्ञान,
मुझे आया है मधु का स्वाद
हलाहल पी लेने के बाद।

३३

हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त
नहीं पर थी वह भेंट, न दान,
अमृत भी मुझको अस्वीकार
अगर कुंठित हो मेरा मान;
दृगों ने मोती की निधि खोल
चुकाया था मधुकण का मोल,
हलाहल आया है यदि पास
हृदय का लोहू दूँगा तोल!

३४

गया जब स्नेह सरोवर सूख
लहरता था जो चारो ओर,
बुझाता जो था मेरी प्यास,
बनाता जो था मत्त-विभोर,

हुई कब तृष्णा कुछ भी न्यून
उसे जीने की साध अटूट,
सुरक्षित रक्खे थी अस्तित्व
हृदय के लोहू का पी घूँट।

३५

बताए इसका कौन जवाब—
अकेला मानव क्यों असहाय ?
प्रणय की क्यो उसको दरकार ?
मगर क्यों पाने में निरुपाय ?

प्रणय के अस्थिर है क्यो पॉव ?
छोड़ क्यो जाता शून्य—अभाव ?
नहीं भरने पाता क्यो, हाय,
हृदय में कर जाता जो घाव ?

३६

यहाँ हम पाते भी यदि स्नेह
बनाते कागज का ससार,
नही बनकर होता तैयार
कि जलकर हो जाता है क्षार,

जलाना ही है उसका काम
नही, पर, दोषी इसमें आग,
हमी कागज़ के घर मे बैठ
उठाया करते दीपक राग !

३७

बनाते हम जो जग के बीच
प्रणय का अभिनव लोक पुनीत,
इसी से कर लोगे अनुमान
कि दृढ़ कितनी है उसकी भीत—

जगत की एक अपावन् डीठ
ढहाकर करती उसको ढेर,
प्रकट, जो होना है परिणाम
अगर दे आँखे काल तरेर ।

३८

बनाया हमने जिसको साथ
मिटाने को स्वप्नों का राज,
अगर विधि भी होता तैयार
टूटता मैं उसपर बन गाज,

ढहाते पर ये किसके हाथ
प्रणय का मेरा प्रिय आवास,
कि मैं यों बैठा हूँ चुपचाप
देखता अपना सत्यानाश ।

३९

मिटा सब जिसके मन का मोह,
गया सब जिसके मन से राग,
जुटा सब जीवन के अरमान
लगा जो आया उसमे आग,

प्रलोभन उसके पथ मे डाल
जगाते फिर क्यों उसकी साध ?
करे वह किसके प्रति अन्याय,
करे वह किसके प्रति अपराध ?

४०

लगाकर अपनी सारी शक्ति
मुझे ले जाते हो जिस ओर,
उधर से मुँह लूँ अपना मोड़,
कहाँ मुझमें है इतना ज़ोर;

चलूँ तो बनता पापी घोर,
हटूँ तो होता हेय पदार्थ,
कठिन पापों के पथ पर आज
परीक्षित है मेरा पुरुषार्थ !

४१

लौह की ले वजनी जंजीर
अगर तुम देते मुझको बाँध,
तोड़कर होने मे आज़ाद
न मुझको लगता लमहा आध,

सुरुचि को कर मुझमें मज़बूत
बनाया मुझको उसका दास,
मुझे मादक, मोहक, छविमान
बँधाए शत-शत आशा-पाश।

४२

किया मैंने विषमय हर 'आज'
कि मेरा हर 'कल' हो मधुमान,
बताता जीवन का इतिहास
गलत निकला मेरा अनुमान;

विफल है मेरा 'कल' हर एक
मगर फिर भी 'कल' एक पुकार
यही कहता—'मुझमें सभाव्य
तुम्हारे सब 'कल' का प्रतिकार !'

४३

कि जीवन आशा का उल्लास,
कि जीवन आशा का उपहास,
कि जीवन आशामय उद्गार,
कि जीवन आशाहीन पुकार,

दिवा-निशि की सीमा पर बैठ
निकालूँ भी तो क्या परिणाम,
विहँसता आता है हर प्रात,
बिलखती जाती है हर शाम !

४४

गगन वातायन पर आसीन
उषा का सुंदर स्वर्णिम चीर
सुबह लहराता जो चल मंद
सुवासित, शीतल, स्निग्ध समीर,

वही अति निर्ममता के साथ
पकड़ उसके आँचल का छोर
निशा की कलुषित कालिख बीच
उसे बरबस देता है बोर।

४५

प्रकृति के आँगन से लूँ सीख
भला क्या जीवन का संदेश,
विभा - मज्जित ऊषा का हास
तिमिर में डूबा संध्या - वेष,

गया था दे मुझको जो दान
दिवस में कोयल का आह्लाद,
गया ले उसको निशि मे छीन
पपीहे का व्यापक अवसाद।

४६

आज दस बरसों से यह पीत
चमेली खिलती एक प्रकार,
उतर आती इसपर हर साल
अनोखी एक बसंत - बहार,

मगर आकर हर बार बसंत
पूछता मुझसे एक सवाल,
वही क्या तुम हो सचमुच व्यक्ति
जिसे मैंने देखा परसाल !

४७

शिशिर की श्रीहत आकृति देख
न रुकती थी आँसू की धार,
कि सहसा आकर तन-मन-प्राण
गई गुदगुदा बसंत - बयार,

अभी कर भी न सका था पूर्ण
बसंती वैभव का गुणगान,
गया थप्पड़-सा मुँह पर मार
अचानक पतझड़ का तूफान !

४८

यहाँ यदि हम हँसते, नादान,
यहाँ यदि हम रोते, अज्ञान,
रहा हो इन दोनों से दूर
नही देखा मैने इसान,

हँसी सुनकर आकाश उदास,
रुदन सुनकर धरती सोल्लास,
हँसी का नभ करता अपमान
रुदन का क्षिति करती उपहास।

४९

न जीवन है रोने का ठौर,
न जीवन खुश होने का ठौर,
न होने का अनुरक्त, विरक्त,
अगर देखो कुछ करके ग़ौर,

कभी तो उठती मन मे बात
कि बस, सब धुन-धधों को छोड,
एक अँचरज से मुख-दृग खोल
एक टक देखूँ जग की ओर।

५०

जगत है चक्की एक विराट
पाट दो जिसके दीर्घाकार—
गगन जिसका ऊपर फैलाव
अवनि जिसका नीचे विस्तार;

नही इसमें पड़ने का खेद,
मुझे तो यह करता हैरान,
कि घिसता है यह यत्र महान
कि पिसता है यह लघु इसान !

५१

अगर जग से मानव घबराय
कहाँ पर वह बेचारा जाय,
धरा में धँसने से असमर्थ
गगन पर चढ़ने को निरुपाय,

प्रार्थना का यदि ले अवलंब
कहाँ है देवो का आवास ?
अगर हो भी उसका अस्तित्व,
कहाँ है अतर में विश्वास ?

५२

पूर्वजों का था यह सौभाग्य
कि उनका था यह दृढ़ विश्वास,
धरा पर छाया अंबर नील
दयामय देवों का अधिवास,

हमारे हेतु मगर यह शून्य,
शून्य चिर, केवल विस्तृत शून्य,
किया जो करता है अविराम
हमारी लघुता का उपहास।

५३

बड़ा भारी कोई षड्यन्त्र
रचा है मेरे चारों ओर,
कि मैं हूँ बाहर भी लाचार,
कि मैं हूँ भीतर भी कमजोर,

हुआ मैं जिस दिन से बाहोश
मुझे भरमाती आई चाह,
किया मैंने जब से प्रस्थान
मुझे भटकाती आई राह।

५४

अवनि से जब उठती है ऊब
गगन पर चढती मेरी चाह,
धरा पर गिरती फिर निरुपाय
नही जब नभ करता परवाह;

विवश मैं धरती पर आसीन,
विवश मैं अबर पर उड्डीन,
धरणि की ममता से मै हीन,
गगन की करुणा से मै हीन।

५५

और मानव का धन्य स्वभाव
कि इन सब परितापो के बीच,
नही चुप हो, सकता है बैठ
धैर्य से अपनी साँसे खीच,

किसी का देखेगा अन्याय,
किसी के सिर पर देगा दोष,
किसी की दिखलाएगा भूल,
तभी कुछ पाएगा संतोष।

५६

जहाँ पर पग-पग सीमित भूमि
वहाँ पर इच्छा सीमाहीन,
बड़ा आकर्षक है आकाश
मगर पैरो के पास जमीन;

जहाँ पर हारा है ससार
वहाँ पर तेरी कैसी जीत,
निरख उसको भी आँखे खोल
रही है दुनिया पर जो बीत।

५७

रहे गुजित सब दिन, सब काल
नही ऐसा कोई भी राग,
रहे जगती सब दिन सब काल
नहीं ऐसी कोई भी आग,

गगन का तेजोपुज, विशाल,
जगत के जीवन का आधार
असीमित नभ मडल के बीच
सूर्य बुझता-सा एक चिराग़।

५८

एक दिन बुझ जाएगा सूर्य
प्रकाशित जिससे सब संसार,
एक दिन बुझ जाएगा चाँद
निशा का सुंदरतम शृंगार,
एक दिन बुझ जाएँगे दीप
गगन के सब, खद्योत, विचार—
अर्थ क्या रखता बुझना सोच
मचाना तेरा हाहाकार।

५९

एक दिन दृढ़ चीनी दीवार
गिरेगी, गिरकर होगी क्षार,
धरालुंठित होगी दिन एक
कुतुब की नभचुंबी मीनार,
धँसेगी मरु में मिस्र-समाधि
किसी दिन, कुटिया, तनिक विचार—
अर्थ क्या रखता मिटना सोच
मचाना तेरा हाहाकार।

६०

एक दिन हंस-कमल युत दीर्घ
सरोवर होंगे जल से हीन,
करेंगी प्यास-प्यास दिन एक
जगत की नदियाँ होकर दीन,

एक दिन काल अग्निशर चंड
सोख लेंगे सागर गंभीर,
कौन-सी गिनती में, नादान,
तुम्हारी आँखों का यह नीर।

६१

एक दिन काल प्रबल के हाथ
हिमालय के धर कंध विशाल,
एक झटके में नस-नस तोड़
धरा पर 'धम' से देंगे डाल,

रजत का उसका मुकुट विराट
बनेगा रज के कण का ग्रास,
लिखा जाते मानव सम्राट
शिलाओं पर अपना इतिहास!

६२

एक दिन चिर विनाश की श्वास
फूँक देगी सब वेद-पुराण,
फूँक देगी पावन इंजील
भस्म कर देगी पूत कुरान,

राख होंगे सब, कवि सम्राट,
तुम्हारे गौरव काव्य-किरीट,
हमारी तुकबदी के हेतु
बहुत होंगे लघु-लघु कृमि-कीट।

६३

इधर है मरुथल शून्य अनादि,
उधर है लय मरुदेश अनत,
बसा है इन दोनों के बीच
एक लघु कण पर सृष्टि बसत,

एक लघु क्षण ले कोकिल कूक,
चतुर्दिक आँधी के आसार,
एक लघु कंपन भर की देर,
मरुस्थल होता एकाकार।

६४

काल-मापक यन्त्रों के बीच
बालुका के किनकों की माल
मध्य-छिद्रों से गिर दिन-रात
व्यक्त करती घड़ियों की चाल,

किसी का ऐसा यंत्र विराट
कणों में भूमि हमारी एक,
सृजन-लय में आ-जा अविराम
क्षणों का करती है अवरेख!

६५

यहाँ पर देश अनादि-अनंत,
यहाँ पर काल अनादि-अनंत,
मनुज का इनमें कितना अंश
शून्य से बस ऊपर, हा, हंत!

मनुष्यों को हो जब तक प्राप्त
न संसृति की गुरुता का ज्ञान,
असंभव करना उनके हेतु
स्वयं निज लघुता का अनुमान!

६६

अजानेपन का तो यह हाल
कि हम क्या थे कल यह अज्ञात,
नहीं देती कुछ भी आभास
हमें कल होने वाली बात,

न जाने किस बूते पर भूल
हमारे सारे संत - महंत,
उधर से चलते जिधर अनादि
उधर को जाते जिधर अनंत ।

६७

सिंधु में बहता यह तृण सूक्ष्म,
कि मरुथल में उड़ता कण क्षीण,
शून्य में भ्रमती जो यह भूमि
बिंदु सी स्थिति सत्ता से हीन,

और इस अणु पर अगणित जीव
कि जिनमें मानव, धिक् अविवेक,
'सृष्टि के स्वामी' का ले नाम

६८

अचल, रे अचल नही गिरि-शैल,
अचल है चलने का व्यापार,
मिला जिसको है अचला नाम
रही है ढो जीवन का भार!

नही अक्षय, अक्षयवट वृक्ष,
एक अक्षय है क्षय निःशेष,
अमर, ओ अमर नहीं सुर-देव
अमर है मरने का सदेश!

६९

प्रतिक्षण देख हमारा नाश
अधर पर अमरो के मुसकान,
अमरता का करती अभिमान
मर्त्य के सपनो की सतान।

तुम्हारी सत्ता ही क्या, देव,
मुझे कहना कुछ और महान,
न रह जाएगा जिस दिन भक्त
नहीं रह पाएगा भगवान!

७०

उठाने मे होंगे असमर्थ
लेखनी जिस दिन कवि-कर क्षीण,
उसी दिन होगी शत-शत खड
गिरे, गिर तेरे कर की बीन,

कल्पना - कवि - रवि-रश्मि-प्रकाश
पड़ेगा जग में जिस क्षण मद,
उसी क्षण तेरे नीरज - नेत्र
कमल-वन-चारिणि, होंगे बद।

७१

मिटा ज्यों ही रजनीपति चद्र
अमित हिम किरणों का आगार,
जहाँ सूखी शिव - सिर - आसीन
सदा शीतल सुरसरि की धार,

गरल बदला लेने के हेतु
करेगा तैयारी तत्काल,
उफन उर से ऊपर की ओर
विदारेगा शकर का भाल!

७२

लगा होठों को श्रवण समीप
सुरा यह बोली थी दिन एक,
अमरता का है तुझमे तत्त्व,
समझता भिन्न अगर, अविवेक,

हलाहल आ अधरों के पास
और ही देता है संदेश,
मनुष्यों का है क्या अस्तित्व
यहाँ पर अमर नहीं सर्वेश।

७३

नरक जिसके रहने का स्थान
स्वर्ग का वह करता है ध्यान!
अचभा करने का यह ठौर,
खोलकर सुन लो अपने कान।

नहीं क्या साधारण यह तर्क,
नहीं क्या स्वाभाविक यह बात
कि मरनेवालों का अनुमान
कि मरनेवाला है भगवान!

७४

सुरों को असुरों को भी ज्ञात
नहीं है, देव, तुम्हारा अंत,
तुम्हें कहते आए हैं वेद
सदा से अजर, अनादि, अनंत,

इसे कहलो मेरा अज्ञान,
कहो मेरी गति - मति का दोष,
मरोगे तुम भी—पर यह सोच
मुझे कुछ होता है संतोष !

७५

सभी जब हो जाएगा नष्ट
मरेगा भूखों काल महान,
दैव एकाकीपन से ऊब
तजेगा आत्मघात कर प्राण,

शून्य में उठ - उठ नीरव नाद
करेगा प्राप्त अनंत विकास—
प्रलय-लय-नाश ! प्रलय-लय-नाश !
प्रलय-लय-नाश ! प्रलय-लय-नाश !

७६

न झिझका औ' न हुआ भयभीत,
न भागा ही लेकरके प्राण,
दिखा जब मुझको आता काल
कफ़न का ले हाथो मे थान,

बढ़ाया पट जब मेरी ओर
उठा तैयार हुआ तत्काल,
निकट जो मेरे थे वरदान
दिया, पर, उसने उनपर डाल !

७७

हुआ था मुझको जब संदेह
कि आता मेरा अंतिम याम,
दिए थे उनको कुछ संदेश
हिए में करते थे जो धाम,

गए हैं वे तो सो चुपचाप,
कफ़न से उठती एक पुकार—
दिए थे हमको जो उपदेश
तुम्हे है उनकी अब दरकार ।

७८

उठा करता था मन मे प्रश्न
कि जाने क्या होगा उस पार,
निवारण करने मे सदेह
मजहबी पोथे थे बेकार,

चले तुम, पूछा, हे ! किस ओर ?
कहा बस तुमने एक जबान,
तुम्हे थी जिसकी खोज-तलाश
उसी का करने अनुसंधान...

७९

और मैं लेकर बैठा आस
कि फिर तुम आओगे इस पार,
नहीं मै ही केवल बेजार,
प्रतीक्षा मे है सब ससार;

गया उस देश न आया लौट,
अरे, कितना उसका विस्तार
कि उसकी जब करता है खोज
स्वय खो जाता खोजनहार ।

८०

अंत का इतना था विश्वास
विदा का लिख डाला था गीत,
कलेजे को हाथों से थाम
सुना करते थे मन के मीत,

गए वे तो तज मेरा साथ
मगर वह गीत लगा है संग,
ध्वनित हो बहु कंठों से आज
किया करता है मुझपर व्यंग।

८१

किसी भावुक क्षण में दो बात
जहाँ की थी हमने दिन एक,
बनाते हैं हम उसको तीर्थ
हमारा देखो तो अविवेक!

कभी घोषित होते थे रोज
जहाँ से शाहों के फ़रमान,
स्वयं आँखों से आया देख
वहाँ रोया करते हैं श्वान!

८२

कहाँ है अकबर का वह स्वप्न
जिसे कर पत्थर से मजबूत,
किया था उसने भूपर सत्य !
यहाँ पर थिर किसकी करतूत !

ढह रहे हैं गुंबद-प्रासाद
ढक रही उग-उग उनको घास,
सीकरी एक ठीकरी आज
फतहपुर काल - पराजित दास।

८३

घूमती नूरमहल थी एक
दिवस बन जिन महलों की नूर,
खड़े है खँडहर-से वे आज,
किसी दिन हो जाएँगे घूर,

नूर भी थी मिट्टी का अंश,
महल भी है मिट्टी का भाग,
धरे वह चाहे जिसके पास
धरोहर अपनी लेती माँग।

८६

जगत की चहल-पहल से दूर,
बड़ी दुर्गम घाटी के बीच
लगाया था यह प्रेमोद्यान
किसी ने स्नेह - सलिल से सींच,

किए थे सारे यत्न - उपाय
न हो इसमें कोई उत्पात,
मगर करता सबका उपहास
प्रलय का आया झंझावात !

८७

और उनका वह 'महल जहाज़'
चतुर्दिक जिसके बाग-तड़ाग,
सुमन-सरसिज दल से परिपूर्ण
सदा सरसाते थे अनुराग,

पड़ा है लावारिस-सा आज
भुला सब सपना, सब शृंगार,
बनों मे बदल गए है बाग,
सरों मे उगती सघन सिवार।

८८

खड़े कुछ ऐसे भी प्रासाद
नए-से जो लगते हैं आज,
मगर था उनमें जिनका वास
गिरी उनपर कब की यम-गाज,

द्वार-सा मानो वे मुँह फाड़
प्रश्न करते यह बारंबार,
'किया क्या सदियों का सामान
नहीं जब रहना था दिन चार ?'

८९

उड़े दो प्रणय पखेरू छोड़
निशा की कल-क्रीड़ा का नीड़,
समय-मर्दित हो ढह बह जाय,
बचे, जैसी उसकी तकदीर,

बचा सकता है उसको कौन
समय की जिसपर पड़ती मार,
करे माँडू का जीर्णोद्धार
कहाँ तक, कब तक राजा-धार !

९०

जहाँ तुम करते थे अभिसार
पडी है जगहे वे सुनसान,
मगर यह तो कोरा अज्ञान—
तुम्ही पर ऐसी विपद महान;

हुआ क्या उन महलों का हाल
कि जिनके अंदर इंद्र-समान,
विनोद, प्रमोद, विलास, विहार
किया करता था शाहजहान।

९१

जहाँ पर चमकीले, रंगीन
झाड़-फानूसों की थी शान,
लगाकर छत्ता बैठी बर्र,
रही है मकड़ी जाला तान;

शाह औ' शहजादों के साथ
जहाँ रहती थी बी मुमताज,
बढ़ाते उल्लू निज परिवार
लटकते है चमगादड़ आज!

६२

परी-सी थी मलका मुमताज़
उसे था कितना उसपर स्नेह,
मगर नश्वर तत्त्वों के साथ
बनी थी उसकी भी तो देह,

गई जब वह अपना तन छोड़
कलेजे पर धर एक पहाड़,
किया जैसे करते सब लोग,
दिया था मिट्टी में ही गाड़!

६३

किसी ने बनवाया भी ताज
किसी की यदि रखने को याद,
न क्या हो जाएगा वह जीर्ण
न क्या हो जाएगा बरबाद,

ताज का एक-एक पाषाण
कहा करता दिन-रात पुकार,
मुझे खा जाएगी दिन एक
इसी यमुना की भूखी धार।

६४

तुम्हारी ताज़ी रक्खूँ याद
भला कैसे रो, गाकर गीत,
समय की गान - रुदन के साथ
नही रोकी जा सकती जीत,

चला है ले जब तुमको छीन
तुम्हारी क्या छोड़ेगा याद
अभी ही कितनी सुधियाँ, हाय,
चुका कधां पर अपने लाद।

६५

विजय की बस चप्पा भर भूमि
किया उसपर कितना अभिमान,
सुयश का, बंदी-चारण दूर,
कराया पाषाणों से गान;

खड़ा चित्तौर किले के बीच
कहा करता है कीर्तिस्तभ,
हुआ है केवल मुझमे मूर्त
मृत्तिका के पुतले का दभ।

९६

विजय करके सारा ससार
न जिनको हो सकता था सब्र,
न करवट लेने की भी एक
जगह उनको देती है क़ब्र,

वही भुज-दड सके जो तोड़
गढ़ों की गर्वीली दीवाल,
न सकते पतली, छोटी, क्षीण
शिला अपने ऊपर से टाल।

९७

कहाँ है अब नृप औरँगज़ेब,
कहाँ उसकी नंगी तलवार,
कहाँ अब उसका क्रोध कराल,
प्रकपित जिससे था ससार;

एक मिट्टी पत्थर की कब्र
दबाए उसका आज शरीर,
बता करती उसका उपहास—
बद है इसमें 'आलमगीर'!

६८

समझ, तुमको पाने को जीत
किया था मैंने भी अभिमान,
उठाई थी ऊँची आवाज,
नहीं, क्या था मेरा मधुगान ?

हुई हो तुम तो सहसा लुप्त,
गई मधु की भी प्याली टूट,
हलाहल का-सा बनकर किंतु
गले में अटका मधु का घूँट ।

६९

और तुमको खोकर भी आज
गीत ही लिखता हूँ मैं एक,
और मिटना ही उनको गूँज
जिस तरह मिटते नित्य अनेक,

अमिट करता है लुप्त विभूति
मनुज मिटती चीजों के संग,
स्वयं मानव अपना उपहास,
स्वयं मानव है अपना व्यंग ।

१००

महल, मंदिर, गुंबद, मीनार,
मक़बरे, गढ़, खंभे, दरबार,
मनुष्यों के सुख, दुख, अभिमान,
भीति, सुधि, श्रद्धा के आगार,

हृदय के जैसे भाव-अभाव
बसा लेते अपने में छंद
किसी युग के विश्वास-विचार
हुए हैं पाषाणों में बंद।

१०१

निगाहों में थे नक़शे खींच
रहे इन भवनों के जिस काल
मही भोगी भूपति, सम्राट
अगर यह उनको आता ख़याल—

खड़े होंगे सदियों तक मौन
मुँडेरे, मंदिर, महल, मकान,
नहीं उनकी सत्ता का किंतु
बचेगा बाकी एक निशान—

१०२

किया था स्वर्गों का निर्माण
जिन्होंने भू पर निःसंकोच,
चले जाएँगे इनको छोड़,
नही क्या वे सकते थे सोच।

नहीं सभव है हो अज्ञात
उन्हे इतनी मामूली बात,
नहीं थे वे इतने नादान,
उन्हें था ज्ञात, उन्हे था ज्ञात।

१०३

मनोहर गुड़ियों का घर टूट
गया, माना यह दुख की बात,
मगर मानव पर यह विधि-प्राप्त
नहीं कोई नूतन आघात,

बता दूँ तुझसे एक रहस्य,
घिरौंधे की तूने दीवार
उठाई थी जिस रज के साथ
प्रणय के स्वर्गों की थी क्षार!

१०४

मुझे यदि निश्चय भी हो जाय
घिरौंधा शब्दों का सुकुमार
बनाता जो मैं निशि मे बैठ
सुबह को मिटकर होगा क्षार—

और निश्चित भी कुछ यह बात—
आह, निर्मित करने की चाह!
करूँगा उसका ही निर्माण
देखता जो मिटने की राह!

१०५

नहीं उठते थे गृह-प्रासाद
किसी का उठता था व्यक्तित्व,
ढहे, बह जाएँ गृह-प्रासाद
अछूता उसका है अस्तित्व,

हुआ करती जब कविता पूर्ण
हुआ करता कवि का निर्माण,
अमर हो जाता कवि का कंठ
गूँजकर मिट जाता है गान!

१०६

देखकर तुझको रचना-मग्न
निरंतर सहारों के बीच,
करेगा जो तेरा उपहास
सृष्टि के नीचों में वह नीच,

मर्त्य की मिट्टी तू म्रियमाण
साधना तेरी सब स्वर्गीय,
दैवतों में तू ईर्ष्या - पात्र,
मानवों में तू हो दयनीय !

१०७

नहीं है यह मानव की हार
कि दुनिया से करता प्रस्थान,
नहीं है दुनिया में वह तत्त्व
कि जिसमें मिल जाए इंसान,

पड़ी इस पृथ्वी पर हर क़ब्र,
चिता की भूभल का हर ढेर,
कड़ी ठोकर का एक निशान
लगा जो वह जाता मुँह फेर ।

१०८

हलाहल और अमिय, मद एक,
एक रस के ही तीनो नाम,
कही पर लगता है रतनार,
कही पर श्वेत, कही पर श्याम,

हमारे पीने मे कुछ भेद
कि कोई पड़ता झुक-झुक झूम,
किसी का घुटता तन-मन-प्राण
अमर पद लेता कोई चूम।

१०९

सुरा है जीवन का वह स्वप्न
फड़कता देख जिसे संसार,
हलाहल जीवन का कटु सत्य
जिसे छू करता हाहाकार,

अमृत है जीवन का आदर्श
मगर है पाता उसको कौन?
और जो करता भी है प्राप्त
साध वह लेता है व्रत मौन!

११०

बिठाएगी अमरों के साथ
सुरा का दावा था किस काल,
गुणों का करती खुद उद्‌घोष
हलाहल की उठ उद्धत ज्वाल,

किसी को भाग्य और तप खींच
सुधा के पहुँचा भी दे पास,
मरण का ही देने पर मूल्य
मुक्ति का पाएगा विश्वास!

१११

मुक्ति ही यदि जीवन का ध्येय
मुझे मदिरा में भी थी प्राप्त,
मुक्ति ही यदि जीवन का ध्येय
हलाहल के कण कण में व्याप्त,

और यदि छेड़ो स्वाद-विवाद
नहीं कम कटु थी मधु की धार,
सुधा की दो बूँदों का वास
हलाहल के सागर के पार!

११२

बड़ी जगती संमोहनशील,
लुभाने को फैलाती जाल,
कल्पना की मदिरा की धार
कल्पना के प्याले मे ढाल,

और आजीवन उसके साथ
नशे मे रहता है संसार,
मगर कुछ तेरा है सौभाग्य
गया हो जल्दी ही उद्धार।

११३

सुरा पी थी मैने दिन चार
उठा था इतने से ही ऊब,
नही रुचि ऐसी मुझको प्राप्त
सकूँ सब दिन मधुता मे डूब,

हलाहल से की है पहचान,
लिया उसका आकर्षण मान,
मगर उसका भी करके पान
चाहता हूँ मै जीवन-दान!

११४

कल्पना कर ली स्वर्गासीन
कहाँ है लेकिन मेरा राग,
नरक के केंद्रस्थल मे बैठ
माँगता अपने सुख का भाग,

न सुख की जड़ता पर मैं मुग्ध,
न दुख के शोलों पर मैं शात,
न सुख-दुख की दुनिया से दूर
मुझे भाता ही है एकात।

११५

अमर है तो है अमरण, हाय,
हमारी दुर्बलता का दाग,
नहीं सह सकता है इसान
मरे उसके मन का अनुराग,

न मुझको जीवन का ही मोह
न मैं मरने ही को तैयार,
न जीने-मरने का जो अर्थ
जगत में वह मुझको स्वीकार।

११६

न मुझको मधुता ही पर्याप्त,
न मुझको कटुता ही पर्याप्त,
न ऐसे रस से ही अनुराग
न हो दोनो ही जिसमे व्याप्त,

नही की अतरतम की खोज
मगर इतना मुझको मालूम,
मुझे है जिस रस की दरकार
नहीं बाहर के जग मे प्राप्त।

११७

हमारी लघुता का यह ज्ञान,
नही लघुतर पर जाता ध्यान,
हमारी प्रभुता का यह गर्व
हमी में स्थित सब जीव-जहान,

न मुझको लघुता से संतोष,
न मुझको प्रभुता का विश्वास,
न मानव-सत्ता-मापक दंड
मिलेगा इस अग-जग के पास।

११८

सुरा के प्याले में भी डूब
निकल आया ले अपने गान,
हलाहल की लेता है थाह
नहीं हो जाने को लयमान,

सुधा पी भी न मिलेगी शांति
तुझे यदि मिल जाए वह तत्त्व,
तुझे तो है उस रस की खोज
कि जिसपर बलि-बलि हो अमरत्व।

११९

इंद्रधनु को बाँहों में बाँध
किसी ने सतरंगा परिधान
दिया जब उसके तन पर डाल,
किया उसने सुख का अनुमान?

निशा का श्यामल घूँघट खोल
अरुणिमा से धोकर मुख म्लान
लिया जब उसको सहसा चूम,
हुए उसके पुलकाकुल प्राण?

१२०

निशा ने पाया जब वरदान
कि यद्यपि उसका जीवन म्लान,
मिलेगा तम का पर्दा फाड़
उसे फिर-फिर से स्वर्ण विहान,

कभी जाना उसने उपकार ?
कभी माना उसने आभार
कि था वह कितना भारी शाप
हुआ जिससे उसका उद्धार ?

१२१

मिला जब किरणों को अधिकार,
वहाँ वे धँस जाएँ निःशंक,
जहाँ से निर्वासित हो तेज,
तिमिर का फैला हो आतंक,

सकी वे किरणें कब यह जान
कि उनका कितना कार्य महान ?
समझ अपना उत्तरदायित्व
सका हो कब उनको अभिमान ?

१२२

निशा क्या जाने अपनी मुक्ति,
उषा क्या जाने अपना हास,
किरण क्या अपना नव संदेश,
समीरण अपना स्निग्ध विलास,

विश्व है शिथिल, क्लीव, जड़, क्षुद्र,
एक तुझमें है शांति-अशांति,
भ्रांति भी तेरा ही अधिकार
प्राप्त यदि तुझको केवल भ्रांति।

१२३

दिया जब रवि को सहसा डाल
किसी ने व्योमानल के बीच
कि हो वह जलने का आख्यान,
सका वह ठंडी आहें खींच?

लिया जब सहसा शशि का छीन
किसी ने सारा यौवन-ताप,
किया उसको जड़-शीतल-शांत,
उठा उसके होंठों पर शाप?

१२४

समुंदर ने जब पाया शाप
कि उसके जीवन का विस्तार
बने बस आँसू का इतिहास,
किया कब उसने शोकोद्‌गार ?

मरुस्थल ने जब पाया शाप
कि उसके जीवन का प्रस्तार
न जाने स्नेह सलिल की धार,
किया कब उसने हाहाकार ?

१२५

मिला जब तारों को यह शाप
कि सोएगा जब सब संसार,
निरखना होगा नभ का शून्य
उन्हे अपनी आँखो को फाड़,

उन्होंने ढाले कितने अश्रु ?
उन्होंने उगली कितनी आग ?
उठाए कितने तप्तोच्छ्वास ?
सुनाए कितने दुख के राग ?

१२६

सूर्य क्या जाने अपना ताप,
चाँद क्या जाने अपना शीत,
व्योम क्या जाने अपना शून्य,
भूमि क्या अपना अध अतीत,

विश्व है एक दलित-नत दास
एक तू ही जाग्रत कण-क्राति,
भ्राति भी तेरा ही अधिकार
प्राप्त यदि केवल तुझको भ्राति।

१२७

हमारे परितापो का ज्ञात
हमे है उत्तरदायी कौन,
नहीं रखता है क्या कुछ अर्थ
किसी का युग-युग व्यापी मौन,

धरा सकुचाई अपने आप,
गगन शरमाया अपने आप,
गगन का खोलूँ क्या अपराध
धरा पर छोड़ूँ क्या अभिशाप!

१२८

देखने को मुट्ठी भर धूलि
जिसे यदि फूँको तो उड़ जाय,
अगर तूफानों में पड़ जाय
अवनि-अंबर के चक्कर खाय,

किंतु दी किसने उसमें डाल
चार साँसों में उसको बाँध,
धरा को ठुकराने की शक्ति,
गगन को दुलराने की साध!

१२९

उपेक्षित हो क्षिति से दिन रात
जिसे इसको करना था प्यार,
कि जिसका होने से मृदु अंश
इसे था उसपर कुछ अधिकार,

अहर्निश मेरा यह आश्चर्य
कहाँ से पाकर बल-विश्वास,
बबूलों मिट्टी का लघुकाय
उठाए कंधों पर आकाश!

१३०

आसरा मत ऊपर का देख,
सहारा मत नीचे का माँग,
यही क्या कम तुझको वरदान
कि तेरे अतस्तल मे राग,

राग से बाँधे चल आकाश,
राग स बाँधे चल पाताल,
धँसा चल अंधकार को भेद
राग से साधे अपनी चाल!

१३१

कही मै हो जाऊँ लयमान,
कहाँ लय होगा मेरा राग,
विषम हालाहल का भी पान
बढ़ाएगा ही मेरी आग,

नही वह मिटने वाला राग
जिसे लेकर चलती है आग,
नही वह बुझने वाली आग
उठाती चलती है जो राग!

१३२

हलाहल वो है ऐसा तत्त्व
कि इससे डरते है सुर लोग,
अमरता का जिनको अधिकार
उन्हे मरने के डर का रोग,

अचभे में हूं मैं दिन-रात
मिला क्या है तुझको आधार
कि जो तू हो इतना निर्भीक
हलाहल से करता खिलवार !

१३३

सलिल-मारुत को वाहे ठोक
रहा था तू जिस दिन ललकार,
हुआ था अमरो को संदेह
कि तेरे सिर उन्माद सवार,

महा अचरज से अब नभ मौन
कौन तेरे नीचे चट्टान,
कि तुझसे दबता है सैलाब,
कि तुझसे डरता है तूफान !

१३४

निमंत्रित करता बाड़व ज्वाल
कि खुद जाने तू अपना ताप,
निमंत्रित करता नीलाकाश
कि वह क्या सकता तुझमें व्याप,

निमंत्रित करता तू संहार
प्रलय का करता तू आह्वान,
कि देखे कैसे रचता सृष्टि
पुनः तेरे अंतर का गान !

१३५

और यह मिट्टी है हैरान
देखकर तेरे अमित प्रयोग,
मिटाता तू इसको हर बार,
मिटाने का इसका तो ढोंग,

अभी तो तेरी रुचि के योग्य
नहीं इसका कोई आकार,
अभी तो जाने कितनी बार
मिटेगा बन-बनकर संसार !

१३६

चुनौती झंझा को दे क्रुद्ध
गगन के छू आता सब छोर,
चुनौती सागर को दे क्षुब्ध
जाँचता भुज-दंडों का जोर,

कहाँ माहुर की आतुर माँग,
कहाँ ध्रुव जीवन की अनुरक्ति,
परखना तुझको विष में डूब
कि तुझमें कितनी जीवन शक्ति!

१३७

पहुँच तेरे अधरों के पास
हलाहल काँप रहा है, देख,
मृत्यु के मुख के ऊपर दौड़
गई है सहसा भय की रेख,

मरण था भय के अंदर व्याप्त,
हुआ निर्भय तो विष निस्तत्त्व,
स्वयं हो जाने को है सिद्ध
हलाहल में तेरा अमरत्व!

१३८

हलाहल पीकर लेगा जान
कि तू है कितना महिमावान,
नहीं है उनमें तेरा स्थान
कि जिनका होता है अवसान,

हुई है फिर-फिर जग की सृष्टि,
हुआ है फिर-फिर जग का नाश,
कि तू दोनों स्थितियों से भिन्न
तुझे हो फिर-फिर यह विश्वास।

१३९

नहीं साहस कर सकता व्योम
कि आकर बैठे तेरे साथ,
नहीं साहस कर सकती आग
कि आकर पकड़े तेरा हाथ,

नहीं साहस कर सकता सिंधु
कि तेरे आँसू से ले होड़,
नहीं हिम्मत है झंझावात
सके साँसों से नाता जोड़।

१४०

और इस मिट्टी के तो साथ
बढ़ाया तूने ऐसा प्यार
कि तुझपर चढ़कर बारबार
दिखाया करती खेल-दुलार,

कभी होकर सिर पर आसीन
अगर यह करती है अभिमान,
हृदय मे भर जाती है मोद,
अधर पर दे जाती मुसकान।

१४१

हलाहल पीकर लेगा जान
स्वय निज सीमा का विस्तार,
कि तू है ससृति से भयभीत
कि तुझसे भय खाता ससार,

कि इस महती जगती के बीच
पड़ा तू जैसे कोई गैर,
कि तेरे अतर में जो सिधु
रहा जग उसमें तृण-सा तैर !

१४२

नहीं सकता है अंबर फैल
जहाँ तक फैला तेरा हाथ,
जगत का सबसे तीव्र समीर
नहीं दे सकता तेरा साथ,

ज्वलित सब से नभ का नक्षत्र
नहीं रखता किरणों मे जोर
कि छू भी ले उस तम का छोर
जहाँ तू कर आया है भोर!

१४३

और इस मिट्टी के तो साथ
बढ़ाया तूने इतना प्यार
कि इसका खेल-घिरौंधा देख
निछावर इसपर बारबार,

बुलाती अटपट बानी बोल—
बनाओ मुझको अपना वास,
हृदय में सुनकर तेरे मोद,
अधर पर सुनकर तेरे हास!

१४४

कहीं यह मिट्टी सकती जान
कि कितने लोकों का कर नाश
भराता है तू उसकी नींव
उठाना जो तुझको आवास !

नहीं, पर, मिट्टी सकती जान
कि रचकर ऐसा भी आगार
नहीं तू होता क्यों सतुष्ट,
किया क्यों करता हाहाकार !

१४५

कहीं यह अबर सकता जान
कि कितने आकाशों का नाश
हुआ है तब जाकर वह शून्य
बना जो तुझमे करता वास !

नहीं, पर, अबर सकता जान
कि रचकर ऐसा शून्य महान
सहन क्यों करने में असमर्थ
अभावों का भी तू सुनसान !

१४६

कहीं यह झंझा सकती जान
कि कितने तूफानों के प्राण
गए हैं तब जाकर वह साँस
बनी है जा तुझमें गतिमान !

नहीं, पर, झंझा सकती जान
कि तेरे वश में जब यह श्वास,
कँपाता जैसे पीपल-पात
तुझे क्यों तेरा ही उच्छ्वास !

१४७

कहीं यह ज्वाला सकती जान
कि नभ के पिंडों में जो आग
धधकती रहती है सब काल
कभी तुझको छूने का दाग !

नहीं, पर, ज्वाला सकती जान
कि हो यह ज्योतिर्पुंज महान
किसी की करता क्यों मनुहार
कि करदे तेरा पुण्य विहान !

१४८

कहीं यह सागर सकता जान
कि कितने जलनिधि सीमाहीन
गए हैं सोखे तब वह बूँद
बनी जिससे तेरे दृग पीन !

नहीं, पर, सागर सकता जान
कि ऐसे आँसू का वरदान
लुटा तू देता क्यों चुपचाप
किसी के चरणों में अनजान !

समाप्त

हलाहल के पदों की अकारादि क्रम से प्रथम पंक्ति सूची

	प्रथम पंक्ति	क्रम संख्या

बच्चन की

अन्य प्रकाशित रचनाओं का विवरण

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

बंगाल का काल

(कवि का नवीनतम प्रकाशन)

सन् १६४३ का दुर्भिक्ष जिसमें बगाल के लगभग आधे करोड़ मनुष्य भूख की विकराल ज्वाला में स्वाहा हो गए, शासकों के निर्दय अत्याचार, पूँजीपतियों की निर्मम स्वार्थपरता और देशवासियों की दयनीय नपुंसकता का प्रतीक बनकर आनेवाली न जाने कितनी सदियों के ऊपर अपनी अमगल छाया डालता रहेगा।

यह रचना इसी भीषण अकाल के प्रति कवि की प्रतिक्रिया है। यह १६४३ मे ही लिखी गई थी, परतु समय की दमन पूर्ण परिस्थिति में इसे प्रकाशित करना असभव था। तब इसकी केवल सौ पक्तियाँ श्रीमती महादेवी वर्मा के 'बग दर्शन' में छापी जा सकी थी। अब सपूर्ण रचना जिसमे एक हजार से अधिक पक्तियाँ है पुस्तक रूप मे प्रकाशित हो गई है।

बच्चन की रचनाओं मे 'बंगाल का काल' एक नए प्रकार की चीज है। इसमे पहली बार आंतरिक अनुभूतियों के कवि ने अपनी आँख बाहर की ओर फेरी है। यहाँ भी उनकी दृष्टि मे मौलिकता है। बग दुर्भिक्ष पर बहुत कुछ लिखा गया है, परंतु प्रस्तुत रचना मे उसके प्रति कवि का अपना मनोवेग है, अपना दृष्टिकोण है और अपने विचार है। इस दृष्टिकोण की सार्थकता इतने से ही सिद्ध है कि जेलो से निकलकर हमारे बड़े-बड़े नेता भी उन्ही स्वरो में बोले है जिसमे बच्चन की वाणी आज से तीन वर्ष पूर्व मुखरित हो चुकी थी।

इसमें आप बचन के कवि और मानव, दोनो का एक नया ही रूप देखेगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

सतरंगिनी

(दूसरा संस्करण)

यह कवि की १९४२-४४ में लिखित सौंदर्य, प्रेम और यौवन के ५० गीतो का संग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल, १९४५ मे प्रकाशित हुआ था। सौंदर्य, प्रेम और यौवन कवि के लिए नए विषय नहीं हैं। मधुशाला और मधुबाला की पक्ति-पक्ति में सौंदर्य की दुर्दम आसक्ति है, प्रेम की अमिट प्यास है और है यौवन का अनियंत्रित उन्माद। पर निशानिमत्रण के अंधकार और एकात सगीत के एकाकीपन से निकलकर जब कवि ने पुनः उन विषयो पर लेखनी उठाई है तब उसने केवल एक पिछले अनुभव को नही दुहराया। सौंदर्य पर मुग्ध होनेवाली आँखो ने जीवन की बहुत कुछ असुंदरता भी देखी है, प्रेम के प्यासे हृदय ने उपेक्षा और घृणा का भी अनुभव किया है और उषा की मुसकान में नहाती हुई काया कितनी बार तिमिर के सागर में डूब-उतरा चुकी है।

मधुशाला और मधुबाला मे जो सौदर्य, प्रेम और यौवन है उसके आगे प्रश्न वाचक चिह्न लगा हुआ है। सतरंगिनी में उनके प्रति अडिग विश्वास है, वे अब केवल व्यक्ति की प्रेरणा मात्र न होकर विश्व जीवन की वह धुरी हैं जिनपर वह युग-युग से घूमता आया है और घूमता जायगा।

बच्चन ने जीवन की मान्यताओ को सहज में ही कभी स्वीकार नहीं किया। उनका यह परिणाम भी स्वानुभव का मूल्य देकर संचित किया गया है, पुस्तक पढ़कर देखिए।

नया सस्करण छपकर तैयार हो गया है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

आकुल अंतर

(तीसरा संस्करण)

यह कवि की १९४०-४२ मे लिखित ७१ गीतो का सग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी '४३ मे प्रकाशित हुआ था। कवि को अपनी पिछली रचना 'एकात संगीत' लिखते समय आभास हुआ था कि उसकी कई कविताएँ आतरिक अशाति को व्यक्त न करके बाह्य विह्वलता को मुखरित करती हैं। इस कारण भविष्य मे उन्होने अपने गीतो को 'आकुल अतर' और 'विकल विश्व' दो मालाओ मे रखकर आतरिक और बाह्य दोनो प्रकार की विक्षुब्धता का अलग अलग वाणी देने का निश्चय किया था। दोनो मालाओ के गीत इन तीन वर्षो मे पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होते रहे हैं। इस पुस्तक मे कवि ने 'आकुल अतर' माला के अतर्गत लिखित ७१ गीतो को संगृहीत किया है।

'एकात सगीत' मे 'आकुल अतर' मे कितना परिवर्तन आया है, यह केवल इस बात से प्रकट हो जायगा कि 'एकात संगीत' का अंतिम गीत था 'कितना अकेला आज मै' और 'आकुल अतर' का अतिम गीत है 'तू एकाकी तो गुनहगार'। भावो की किन-किन अवस्थाओ से यह परिवर्तन आया है, इसे देखना हो तो 'आकुल अतर' पढ़िए। 'निशा निमत्रण' के अधकार पूर्ण और 'एकात सगीत' के विषाद मय वातावरण के साथ सघर्ष करके यहाँ पर कवि आपको जग और जीवन के साथ एक बार फिर से नया सबध स्थापित करता हुआ दिखाई पड़ेगा।

छद और तुक के बधनो से मुक्त केवल लय क आधार पर लिखे गए कुछ गीत हिंदी के लिए सर्वथा नवीन और सफल प्रयोग हैं।

नया सस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा ले।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

एकांत संगीत

(चौथा संस्करण)

यह कवि की १९३८-३९ मे लिखित, एक सौ गीतों का सग्रह है। यह सर्व प्रथम नवबर, १६३६ मे प्रकाशित हुआ था। देखने में यह गीत 'निशा निमत्रण' के गीतो की शैली में प्रतीत होते हैं, परंतु पद, पक्ति, तुक, मात्रा आदि मे अनेक स्थानों पर स्वतत्रता लेकर कवि ने इनकी एकरूपता मे भी विभिन्नता उत्पन्न की है। विचारों की एकता, गठन और अपने आप मे पूर्णता जो 'निशा निमत्रण' के गीतों की विशेपता थी उसकी यहाँ भी पूरी तरह रक्षा की गई है।

कवि ने जिस एकाकीपन का अनुभव 'निशा निमत्रण' में मुखरित किया था उसकी यहाँ चरम सीमा पहुँच गई है। 'कल्पित साथी' भी साथ मे नहीं है। कवि के हृदय में वेदना इतनी घनीभूत हो गई है कि उसे बताने के लिए वातावरण की सहायता की भी आवश्यकता नहीं होती। गीतो का क्रम रचना-क्रम के अनुसार होने से कवि की भावनाओ का जैसा स्वाभाविक चित्र यहाँ आपको मिलेगा वैसा और किसी कृति में नहीं।

कवि ने जीवन के एकात में क्या देखा, क्या अनुभव किया, क्या सोचा, यदि इसे जानना चाहते हैं तो एकात संगीत को लेकर एकात में बैठ जाइए। जीवन मे एक स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति एकाकी है। इन गीतों को पढ़ते हुए आप यही अनुभव करेंगे कि जैसे आपके ही जीवन के एकाकी क्षणो के चितन और मनन को कवि ने वाणी प्रदान कर दी है। बच्चन की यह विशेषता है कि वह व्यक्तिगत अनुभवो को कला के घरातल पर लाकर सार्वजनीन बना देते हैं।

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा लें।

निशा निमंत्रण

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३७-३८ में लिखित एक कहानी और एक सौ गीतों का संग्रह है। यह सर्व प्रथम नवबर, १९३८ मे प्रकाशित हुआ था। 'निशा निमंत्रण' के गीतो से बच्चन की कविता का एक नया युग आरंभ होता है। १३-१३ पक्तियो मे लिखे गए ये गीत विचारो की एकता, गठन और अपनी संपूर्णता में अंग्रेज़ी के सॉनेट्स की समता करते हैं। गीतों को लिखने के लिए यह ढाँचा इतना सफल सिद्ध हुआ है कि हिंदी के अनेक कवि आज इसका अनुकरण कर रहे है।

'निशा निमंत्रण' के गीत सायंकाल से आरंभ होकर प्रातः-काल समाप्त होते हैं। रात्रि के अधकारपूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियो को रंजित कर बच्चन ने गीतों की जो शृखला तैयार की है वह आधुनिक हिंदी कविता के लिए सर्वथा मौलिक वस्तु है। गीत एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सौ गीतो का संग्रह न होकर सौ गीतों का एक महागीत है, शत दलों का एक शतदल है। प्रत्येक गीत अपने स्थान पर पूर्ण होते हुए रचना के क्रमिक विकास मे भी सहायक है।

एक ओर तो इनमे प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है दूसरी ओर हर प्राकृतिक दृश्य के साथ कवि की भावनाओ का ऐसा संबंध दिखाया गया है मानो कवि की भावनाएँ स्वय उन प्राकृतिक दृश्यो में स्थूल रूप पा गई हैं। सूर्यास्त के साथ कवि की आशाएँ टूट गई हैं। रात के अधकार मे कवि का शोक छा गया है। प्रभात की अरुणिमा में भविष्य का संकेत कर कवि ने विदा ले ली है।

इसका सौंदर्य देखना हो तो शीघ्र ही अपनी प्रति मँगा लीजिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुकलश

(पाँचवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३५-३६ मे लिखित 'मधुकलश', 'कवि की वासना', 'कवि की निराशा', 'कवि का गीत', 'पथभ्रष्ट'; 'कवि का उपहास', 'लहरो का निमत्रण', 'मेघदूत के प्रति' आदि प्रसिद्धि प्राप्त कविताओं का सग्रह है। यह सर्व प्रथम जुलाई, १९३९ मे प्रकाशित हुआ था।

आधुनिक समय मे समालोचकों द्वारा बच्चन की कविताओं का जितना विरोध हुआ है सभवत: उतना और किसी कवि का नहीं हुआ। उन्होंने अपने विरोधियो की कटु आलोचनाओ का उत्तर कभी नहीं दिया परतु उससे जो उनकी मानसिक प्रतिक्रिया हुई है उसे अवश्य काव्य मे व्यक्त किया है। उत्तर प्रत्युत्तर में जो बात कटु हो जाती वही कविता मे किस प्रकार मधुर हो गई है, 'मधुकलश' की अधिकाश कविताएँ इसका प्रमाण हैं। कवि ने चारो ओर के आक्रमण के बीच किन भावनाओ और विचारो से अपनी सत्ता को स्थिर रक्खा है उसे देखना हो तो आप 'मधुकलश' की कविताएँ पढ़िए। इनके अंदर साहित्य के आलोचको को ही नहीं जीवन के आलोचको को भी उत्तर है, कवि के लिए ही नही मानवता के लिए भी सदेश है। क्योंकि जिस समय यह कविताएँ लिखी गई थीं उस समय साहित्यिक सघर्ष के साथ कवि के जीवन मे भी सघर्ष चल रहा था और उन्होंने किसी स्थान पर पराजय स्वीकार न करने का दृढ़ व्रत धारण कर लिया था।

इसी पुस्तक के विषय मे विश्वमित्र ने लिखा था, 'बच्चन जी की कविताएँ पढ़ते समय हमे इस बात की प्रसन्नता होती है कि हिंदी का यह कवि मानवता का गीत गाता है।'

नया संस्करण तैयार है। अपनी प्रति शीघ्र मँगा ले।

मधुबाला

(छठा संस्करण)

यह कवि की १६३४-३५ मे लिखित 'मधुबाला' 'मालिक-मधुशाला', 'मधुपायी', 'पथ का गीत', 'सुराही', 'प्याला', 'हाला', 'जीवन तरुवर', "प्यास', 'बुलबुल' 'पाटल माल', 'इस पार—उस पार', 'पाँच पुकार', "पगध्वनि' और 'आत्म परिचय' शीर्षक कविताओ का संग्रह है। यह सर्व प्रथम जनवरी, १६३६ मे प्रकाशित हुआ था।

मधुशाला के पश्चात लिखे गए इन नाटकीय गीतों में मधुबाला और मधुपायी ही नहीं प्याला, हाला और सुराही आदि भी सजीव होकर अपना-अपना गीत गाने लगे हैं। कवि को मधुशाला का गुणगान करने की आवश्यकता नहीं रह गई, वह स्वय मस्त होकर आत्म-गान करने लगी है। जिस समय यह गीत लिखे गये थे उस समय 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' के रूपक हिंदी में नए ही थे, फिर भी कवि ने उन्हे अपने कितने भावों, विचारों और कल्पनाओ का केंद्र बना दिया है इसे आप गीतों को पढ़कर स्वयं देख लेगे। इन गीतो मे आप पाएँगे विचारो की नवीनता, भावो की तीव्रता, कल्पना की प्रचुरता और सुस्पष्टता, भाषा की स्वाभाविकता, छदो का स्वछद सगीतात्मक प्रवाह और इन सब के ऊपर वह सूक्ष्म शक्ति जो प्रत्येक हृदय को स्पर्श किए बिना नहीं रह सकती कवि का व्यक्तित्व। इन्हीं गीतों के लिए प्रेमचंदजी ने लिखा था कि इनमे बच्चन का अपना व्यक्तित्व है, अपनी शैली है, अपने भाव हैं और अपनी फिलासफी है।

'मधुशाला' की रुबाइयों के लिए आलोचकों ने प्रायः कहा है कि वह उर्दू साहित्य की परंपरा का अनुकरण है। परतु 'मधुबाला' मे जिस प्रकार के गीत कवि ने लिखे हैं वे सर्वथा मौलिक हैं। फुटकर शेरों और रुबाइयों मे विषयो की भरमार होने पर भी उन्होंने उर्दू में कभी ऐसे गीतो का रूप नही धारण किया।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

मधुशाला

(सातवाँ संस्करण)

यह कवि की १९३३-३४ मे लिखित १३५ रुबाइयों का सग्रह है। यह सर्व प्रथम अप्रैल सन् १९३५ मे प्रकाशित हुआ था। हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के केवल चार प्रतीको और इन्हीं से मिलने वाले कुछ गिनती के तुकों को लेकर बच्चन ने अपने कितने भावो और विचारो को इन रुबाइयो में भर दिया है इसे वे ही जानते हैं जिन्होने कभी मधुशाला उनके मुँह से सुनी या स्वय पढी है। आधुनिक खड़ी बोली की कोई भी पुस्तक मधुशाला के समान लोकप्रिय नहीं हो सकी इसमे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है। अब समालोचको ने स्वीकार कर लिया है कि मधुशाला मे सौदर्य के माध्यम से क्राति का ज़ोरदार सदेश भी दिया गया है।

कवि ने इसे 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद करने के पश्चात् लिखा था इस कारण वे उसके बाहरी रूपक से प्रभावित अवश्य हुए हैं परतु यह भीतर से सर्वथा स्वानुभूत और मौलिक रचना है जिसकी प्रतिध्वनि प्रत्येक भारतीय युवक के हृदय से होती है।

भाव, भाषा, लय और छद एक दूसरे के इतने अनुरूप बन पड़े हैं कि हिंदी से अपरिचित व्यक्ति भी इसका वैसा ही आनद लेते हैं जैसा कि हिंदी से सुपरिचित व्यक्ति। आज ही इसे लेकर बैठ जाइए और इसकी मस्ती से झूम उठिए।

स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि "मधुशाला हिंदी में बिलकुल नई चीज है; यह श्रेय बच्चन को ही है कि हिंदी साहित्य में उन्होंने मधुशाला भी सजा दी।" इतना हम और कहेगे, आप चाहे जितनी बार इसको पढ़े हर बार आप को यह नई ही लगेगी।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

ख़ैयाम की मधुशाला

(तीसरा संस्करण)

यह फिट्ज़जेराल्ड कृत रुबाइयात उमर ख़ैयाम का पद्यात्मक. हिंदी रूपातर है जिसे कवि ने सन् १९३३ मे उपस्थित किया था। मूल पुस्तक के विषय मे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी गणना ससार की सर्वोत्कृष्ट कृतियो मे है। अनुवाद मे प्रायः मूल का आनद नहीं आता, परतु बच्चन के अनुवाद मे कहीं आपको यह कमी न दिखाई पड़ेगी। वे एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रखने के फेर मे नहीं पड़े। उन्होने उमर ख़ैयाम के भावो को ही प्रधानता दी है। इसी कारण उनकी यह कृति मौलिक रचना का आनद देती है।

स्वर्गीय प्रेमचद जी ने जनवरी '३६ के 'हस' मे पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि 'बच्चन ने उमर ख़ैयाम की रुबाइयो का अनुवाद नहीं किया ; उसी रग मे डूब गए हैं।' हिंदी में पुस्तक के और अनुवाद भी हैं पर 'लीडर' ने स्पष्टतया लिखा था कि:—

.. ..Bachchan has a great advantage over many translators in that he himself feels, for all we know, very much like the poet astronomer of Nishapur.

इस सस्करण मे पहली बार अनुवाद के साथ-साथ मूल अग्रेज़ी, और कवि लिखित सार-गर्भित भूमिका और टिप्पणी भी दी गई है। यदि आप अग्रेज़ी से भिज्ञ हैं तो अनुवाद की सफलता को आप स्वय देख सकेगे।

यदि आपने पहले-दूसरे सस्करण देखे भी हैं तो हम आपसे इसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग

(दूसरा संस्करण)

बच्चन की प्रारंभिक रचनाओ का प्रथम सग्रह 'तेरा हार' के नाम से सन् '३२ मे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनकी दूसरी पुस्तक 'मधुशाला' सन् '३५ में प्रकाशित हुई। इन दोनों पुस्तको मे विचार-धरा तथा कवित्व की दृष्टि से बहुत अंतर था जिससे साधारण पाठक तथा आलोचक दोनों विस्मित थे। इस रहस्य का कारण था कवि की लिखी बीच की कविताओ का प्रकाश में न आना। आज जब उनकी कविताएँ लाखों पाठको द्वारा पढी जाती हैं और कवि के प्रति उनका सहज प्रेम है तब यह आवश्यक समझा गया कि उनकी बीच की कविताओ का प्रकाशन भी किया जाय। इसी विचार के अनुसार 'तेरा हार' मे उसके बाद की २३ और कविताएँ समिलित कर 'प्रारभिक रचनाएँ' का पहला भाग प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक का दूसरा भाग भी प्रकाशित हो गया है जिससे कि 'मधुशाला' तक की लिखी सब रचनाये पाठको के सामने आ गई है।

यद्यपि यह बच्चन की प्रारभिक रचनाएँ हैं, फिर भी सभी पत्र-पत्रिकाओ ने इनकी प्रशंसा की है। बच्चन की कविताओ का क्रम-विकास समझने के लिए इसे देखना बहुत आवश्यक है।

पर इन कविताओ की महत्ता केवल ऐतिहासिक ही नहीं है। भावना की दृष्टि से भी इनके अंदर वह सचाई है जो अपने को प्रकट करने के लिए किसी कला की प्रौढता की प्रतीक्षा नहीं करती।

बच्चन की समस्त रचनाओं मे जो उनके व्यक्तित्व की एकता है, इसके कारण आप उनकी नई रचनाओ का आनद तभी ले सकेंगे जब उनकी प्रारंभिक रचनाओ से भी आप अच्छी तरह भिज्ञ हों।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग

(पहला संस्करण)

इस बात का पता शायद कम ही लोगो को है कि बच्चन ने साहित्य क्षेत्र में पहले-पहल कविताओ के साथ नही बल्कि कहानियों के साथ प्रवेश किया था! 'हरिवंश राय' के नाम से उनकी कई कहानियाँ, 'बच्चन' के नाम से उनकी कविताओं के प्रकाशन से पूर्व हिंदी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाओ जैसे हंस, सरस्वती, माधुरी आदि मे प्रकाशित हो चुकी थीं और काफी पसद की गई थी। पर जीवन में कौन ऐसी परिस्थितियाँ आई जिनसे उनका कवि मुखरित हो उठा और कहानीकार मौन हो गया, इससे संसार अनभिज्ञ है।

बहुत दिनो से बच्चन के ऐसे निकटस्थ परिचितो और मित्रो की, जो उनके कवि मे उनके बाल-कहानीकार को न भुला सके थे, यह इच्छा थी कि उनकी कहानियों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया जाय। इसी की पूर्ति के लिए सुषमा निकुंज द्वारा 'हृदय की आँखे' नाम से उनकी कहानियो को प्रकाशित करने का विज्ञापन कई वर्ष हुए किया गया था परंतु किसी वजह से पुस्तक छप न सकी।

अब हमने इन्ही कहानियो को 'प्रारंभिक रचनाएँ' के तीसरे भाग मे सगृहीत किया है। कहानियाँ 'प्रारंभिक रचनाएँ' की कविताओं की समकालीन है, इस कारण हमे इनका यही नाम देना ठीक जान पड़ा। दोनो को साथ पढ़नेवाले सहज ही इस बात का अनुभव करेगे कि कैसे लेखक के मस्तिष्क में चार वर्ष तक कवि और कहानीकार दोनो सघर्ष करते रहे है और कैसे अंत में कवि विजयी हुआ है। इसका पाठ आपके लिए रोचक और मनोरंजक सिद्ध होगा।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग

(दूसरा संस्करण)

जैसा कि नाम से ही प्रकट है यह प्रारंभिक कविताओं के संग्रह का दूसरा भाग है। प्रारंभिक रचनाएँ प्रथम भाग की लगभग आधी कविताएँ पहले 'तेरा हार' के नाम से प्रकाशित हो चुकी थीं, परंतु इस भाग की समस्त कविताएँ पहली बार जनता के सामने लाई जा रही हैं, केवल दो कविताएँ, 'कवि के आँसू' 'विशाल भारत' में, और 'ग्रीष्म बयार' 'सुधा' में प्रकाशित हुई थी।

इस भाग की कविताएँ प्रायः १६३१-३३ के अंदर लिखी गई हैं। देश के इतिहास से परिचित लोग जानते हैं कि यह समय कितनी आशाओं, आयोजनो और दमनो का था। ऐसे समय में एक नवयुवक कवि की प्रतिक्रियाएँ क्या हुईं, इसे जानने के लिए इस पुस्तक का देखना बहुत ज़रूरी है।

बच्चन का अपनी मधुशाला के साथ प्रवेश करना एक साहित्यिक घटना थी। ये कविताएँ मधुशाला की रचना के ठीक पहले की हैं। इन्हें पढ़ने से आपको पता चल जायगा कि इनमें मधुशाला के गायक की तैयारी हो रही थी। शृंगारिकता और क्रांति का जो मिश्रण मधुशाला में दृष्टिगोचर होता है उसकी पहली झलक आपको इन कविताओ में मिलेगी। प्रारंभिक रचनाओं के दूसरे भाग का अंत ही तीन रुबाइयो के साथ होता है और उसके पश्चात ही कवि ने रुबाइयों की वह धारा प्रवाहित की कि जिसमें समस्त हिंदी समाज शराबोर हो उठा।

आप इस पुस्तक को एक बार अवश्य देखिए।

भारती-भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद